डा० कृष्णदत्त अवस्थी
प्रो० यतीन्द्रनाथ तिवारी

काव्यशास्त्र

(भारतीय-पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों एवं काव्यरूपों का विस्तृत विवेचन)

डॉ० कृष्णदत्त अवस्थी
प्रो० यतीन्द्रनाथ तिवारी
हिन्दी-विभाग
जवाहरलाल नेहरू कालेज
बांदा

संस्कृत से अनभिज्ञ छात्रों को इन ग्रंथो के हिन्दी-अनुवादों की आवश्यकता अनुभूत हुई । परिणामतः हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित हुए । पं० शालिगराम शास्त्री आचार्य विशेश्वर, पं० रामदहिन मिश्र, प० बल्देवजी उपाध्याय, पं० सीताराम जी चतुर्वेदी, आचार्य नगेन्द्र आदि के नाम इस सम्बन्ध में स्मरणीय हैं । स्वतन्त्र रूप से भी काव्यशास्त्र पर हिन्दी मे कई ग्रथ निकल चुके हैं । प्रस्तुत ग्रंथ 'काव्यशास्त्र' इन्ही स्वतन्त्र हिन्दी के काव्यशास्त्रो मे स्थान पाता है । भारतीय चिन्तनधारा के साथ काव्यशास्त्र के रचयिताओ ने पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के मत का भी समन्वय किया है । हमे पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दोनो क्षेत्रो की उपलब्धियाँ हस्तगत करना है । वितर्क और विचार ही हमे किसी तत्व के निर्णय में आगे बढाते हैं । दोनों दिशाओ के काव्यशास्त्री अनेक बातो में एक मत हैं । यदि पश्चिम मे ट्रैजेडी या त्रासदी का अधिक प्रचार हुआ तो पूर्व में भी करुण रस को महत्ता प्रदान करने वाले आचार्यो की कमी नही है । यदि वहाँ संकलनत्रय है तो यहाँ भी वस्तु, रस और पात्र का समन्वय है । काव्य के हेतु और प्रयोजन दोनो स्थानो पर एक समान हैं । काव्य के भेद और उपभेद भी लगभग एक जैसे ही हैं ।

काव्यशास्त्र पर विचार करते हुये शैली तत्व भी विचारणीय बन जाता है । अभिव्यक्ति और अभिव्यजना दोनों ही काव्यशास्त्र की परिधि में आते हैं । अग्रेजी का प्रसिद्ध ग्रथ 'आन दि स्टाइल' ख्याति प्राप्त कर चुका है, मेडिलटन महोदय ने अपने इस ग्रन्थ में शैली तत्व पर विशेष रूप से विचार किया है । हमारे 'साहित्य-शास्त्र' में भी शैली तत्व की विस्तार से विवेचना की गयी है । क्रोसे का कथन "सर्वोत्तम अनुभूति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति" सत्य के निकटतम् है । महाकवि भवभूति तो निरावरण शब्दो में कहते हैं "वाणी अर्थ का अनुगमन करती है ।" यदि भाव अधिमात्र अवस्था का है तो उसके अभिव्यजक शब्द भी इसी कोटि के होंगे । कवि की अर्थ और अक्षर दोनों का बल रहता है । महाकवि कालिदास के शब्दो में "वागर्थाविव संपृक्तौ" अथवा तुलसी के शब्दो में "गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" वाणी और अर्थ

अनुक्रमणी

तभी सम्भव है, जब सारी रचना के केन्द्र में एक स्थायीभाव स्थित रहे
उसके विभिन्न अश उसी स्थायी भाव के विभिन्न अवयवों के रूप में
रहें। वे अवयव तीन है–विभाव, अनुभाव और सचारी भाव। ये तीनो स्थ
भाव के घटक तत्व हैं। इन्ही के माध्यम से स्थायी भाव प्रस्तुत होता है।
प्रकार 'रस-निष्पत्ति'–सिद्धान्तो का प्रादुर्भाव किया, उनके परवर्ती व्याख्या
ने। उन्होने इस सूत्र की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए
सिद्धान्त' का विकास कई रूपो मे किया। आचार्य भरत ने 'रस-सिद्धा
के रूप मे एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जो आजभी प्रचलित
मान्य है।

२. नव-अन्वेषण काल (६ वीं शती से ११ वीं शती तक)

भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वतोन्मुखी विकास इस काल मे हुअ
इसी काल मे एक ओर भामह (६ वी शती) दण्डी (सातवी शती) वा
(८ वी शती) आनन्दवर्द्धनाचार्य (१० वी शती) एव क्षेमेन्द्र (११ वी श
जैसे मौलिक चिन्तक उत्पन्न हुए, जिन्होंने साहित्य के नये-नये तत्वो का अन्वे
करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तो की स्थापना की। इधर दूसरी ओर भ
लोल्लट (८–९ वी शती) शकुक (९ वी शती) भट्टनायक (९–१०
शती) अभिनवगुप्त (१०–११ वी शती) राजशेखर (१० वी शती) धन
(१० वी शती) महिमभट्ट (१०–११ वी शती) आदि प्रतिभाओ ने पूर्व
आचार्यों की स्थापनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण एव तीक्ष्ण खण्डन-मण्डन करते
भारतीय साहित्य-शास्त्र को व्यापक एव गम्भीर रूप प्रदान किया। इस
की देन को दो भागों मे विभक्त कर सकते है—

१ नवीन सिद्धान्तो की स्थापना। २. नवीन व्याख्याएं।

नवीन सिद्धान्तों की स्थापना—इस युग में साहित्य-सम्बन्धी ५ नये मह
पूर्ण सिद्धान्तो की स्थापना हुई—

१. अलंकार-सिद्धान्त
२. ध्वनि-सिद्धान्त
३. रीति-सिद्धान्त
४. वक्रोक्ति-सिद्धान्त
५. औचित्य-सिद्धान्त

ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश का प्रेरणा-स्रोत
रतमुनि का नाट्य-शास्त्र है। उपर्युक्त पांचों सिद्धान्तों में क्रमश काव्य के
ाँच पक्षों पर बल दिया गया है अलंकार में काव्य शैली की बाह्य साज-सज्जा
र, रीति में स्वाभाविक गुणों जैसे (मधुरता, सश्लिष्टता, स्पष्टता, नाद-सौन्दर्य
ादि पर) ध्वनि में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर, वक्रोक्ति में अर्थ की लाक्ष-
णिकता पर और औचित्य में विषय और शैली के पारस्परिक सन्तुलन पर
सर्वाधिक बल दिया गया। इस दृष्टि से प्रथम चार सिद्धान्तों को रूपवादी
(Formalist) तथा अन्तिम को वस्तुवादी कहा जा सकता है। रूपवादी सिद्धान्तों
 काव्य के रूप को आकर्षक बनाने के लिए क्रमश चार विधियों पर प्रकाश
डाला गया है—१ बाह्य तत्वों द्वारा अलंकरण २ नाद-सौन्दर्य ३ अर्थ की
व्यंग्यात्मकता ४ अर्थ का वैचित्र्य

इस काल में एक ओर अलंकारवादियों ने रस को एक अलंकार मात्र
मान लिया, तो वक्रोक्तिवादी ने सारे अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता में स्थान
देकर अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार ध्वनिवादियों
ने अलंकार-ध्वनि भेद की कल्पना करके अलंकार सिद्धान्त के सारे वैभव को
हस्तगत कर लेना चाहा। दूसरी ओर अलंकारवादियों ने ध्वनि के ही विभिन्न
रूपों को 'गूढार्थ-प्रतीतिमूलक' अलंकारों की संज्ञा दे दी। पारस्परिक प्रति-
द्वन्द्विता एवं क्षेत्र-विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त
अनिश्चित असर्यादित एवं अप्रामाणिक हो गये, दूसरी ओर इससे साहित्य-शास्त्र
भी अव्यवस्थित एवं असन्तुलित हो गया।

नवीन व्याख्याएँ—इस युग में नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ-साथ
परम्परागत-मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुईं। इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य
भट्टलोल्लट ने रस सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत कर 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना
की। आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट की व्याख्या का खण्डन करके 'अनुमिति-
वाद' की स्थापना की। उन्होंने न्याय-शास्त्र के आधार पर 'अनुमानवाद' को
आधार बनाते हुए रस की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्थान पर उसकी अप्रत्यक्ष
अनुमिति की सम्भावना को सिद्ध किया। सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भाववादी

स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति आदि सभी को थोड़ा-थोड़ा स्थान प्राप्त हुआ। यह दूसरी बात है कि वे किसी को कम महत्व देते हैं और किसी को अधिक, किन्तु उनकी यह समन्वयवादिता किन्हीं प्रौढ़ व्यापक एवं मौलिक दृष्टिकोणों की सूचक नहीं, अपितु सामञ्जस्य की प्रवृत्ति की द्योतक है। कुछ आचार्यों को छोड़ कर शेष में विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं निष्कर्षों की मौलिकता का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से यह युग भारतीय साहित्य-शास्त्र की जरा-अवस्था का सूचक है।

४. पद्यानुवाद-काल (१७ वीं से १९ वीं शती तक)

इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था, अतः भारतीय साहित्य-शास्त्र अनेक प्रादेशिक-भाषाओं में विभक्त हो गया था। इस युग में हिन्दी में केशव, चिन्तामणि कुलपति, सोमनाथ आदि ने पद्यबद्ध रीति-ग्रन्थ लिखे। एतादृश कवि तो अवतरित हुए, परन्तु शास्त्रीय-विवेचन-कार्य इन कवियों के वश में नहीं था। यही कारण है कि डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा "हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है वे आचार्यत्व के अयोग्य है, वे कवि ही प्रधान है, उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय-विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नहीं।" अतः चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योगदान नहीं दिया। हिन्दी के वर्तमान काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योगदान नहीं है।

५. नवोत्थान काल (१९ वीं शती के अन्तिम से अब तक)

इस काल को भी हम मुख्यतः तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—

१ भारतेन्दु द्विवेदी-युग—१८५७ ई० से १९२५ ई० तक

२. रामचन्द्रशुक्ल युग—१९२६ ई० से १९४० ई० तक

३ शुक्लोत्तरयुग—१९४१ ई० से अब तक।

प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्र बन्धु, श्याम-सुन्दरदास, आदि विद्वान थे, जिन्होंने अपने कुछ लेखों एवं पुस्तकों में साहित्य-

सिद्धान्तों का विवेचन किया । भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' ग्रन्थ में नया दृष्टि प्रस्तुत करते हुए प्राचीन-सिद्धान्तों के नवीकरण या प्राचीन और नवीन समन्वय पर बल दिया । आपने भारतीय एवं पाश्चात्य-साहित्य-शास्त्र के समन्व की ओर संकेत दिया । आगे चलकर अन्य विद्वानों ने भी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया । यद्यपि इनमें मौलिकता का अभाव है, किन्तु इन्होंने रीतिकालीन दृष्टिकोण, परम्परा, और शैली त्यागकर नए दृष्टिकोण और नयी-शैली (गद्य-विवेचन करने की शैली) के प्रवर्तन करके स्तुत्य कार्य किया । शुक्ल युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ । उन्होंने युग की परिवर्ति परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्राचीन सिद्धान्तों की निजी दृष्टि से व्याख्या की । विशेषतः 'रस-सिद्धान्त' रसानुभूति एवं रस के विभिन्न स्थायी भावों की भी उन्होंने विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है । अस्तु आचार्य शुक्ल की देन महत्व पूर्ण है ।

शुक्लोत्तरयुग के साहित्य-शास्त्रीय विद्वानों में डा० गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि हैं । इन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य-सिद्धान्तों को सरल एवं सुबोध-शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधान-कर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया । आचार्य द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक-समीक्षा का है, किन्तु उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । आचार्य वाजपेयी का क्षेत्र भी व्यावहारिक समीक्षा का है, परन्तु उनका पाश्चात्य एवं भारतीय शास्त्रों को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास है । नगेन्द्र का क्षेत्र साहित्य-शास्त्र है । इस क्षेत्र में उनकी देन तीन रूपों में विभक्त की जा सकती है—१. आधुनिकता, मौलिकता से युक्त परम्परागत भारतीय रस सिद्धान्त की नवीन व्याख्या २ पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय [illegible] को हिन्दी में प्रस्तुत करना ३ प्राचीन एवं नवीन, भारतीय एवं [illegible] की पारस्परिक तुलना के द्वारा उनके सापेक्ष महत्व का दिग्दर्शन [illegible] । इस प्रकार इसकाल में काव्यशास्त्र का सर्वांगीण विकास

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की संक्षिप्त रूप-रेखा

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास को सामान्यत तीन कालों में विभक्त [illegible]या जाता है—

१ प्राचीन काल—(५ वीं शती ई० पू० से ८ शती ई० पू०)

२ मध्य काल—(५ वीं शती से १५ वीं शती तक)

३ आधुनिक काल—(१६ वीं शती से अब तक)

प्राचीनकाल—इस काल के आचार्यों में प्लेटो(४२७ ई० पू०–३४७ ई०) [illegible]रस्तू (३८४ ई० पू०–३२२ ई० पू०) लोंजाइनस(पहली शती)होरेस(६५ ई० [illegible]वं ८ ई० पू०) सिसरो (१०६–४३ ई०) डिमेट्रियस(प्रथम शती) आदि के नाम [illegible]ल्लेखनीय हैं।

प्लेटो

प्लेटो मूलत साहित्य-शास्त्री नहीं थे। उन्होंने 'गणतन्त्र' में राजनीति [illegible] सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए काव्य के सम्बन्ध में भी चर्चा की। उन्होंने [illegible] तथ्यों पर प्रकाश डाला —

(१) काव्य प्रकृति की अनुकृति है (२) काव्य हमारी भावनाओं को उद्दे-[illegible]जित करता है। उसने एक स्थल पर लिखा है —"अत अब हमारे लिए यह [illegible]याय होगा कि हम जिस देश को सुशासित रखना है उसमें कवि का प्रवेश निषिद्ध कर दें, क्योंकि वह आत्मा के इस दुर्बल अंश को जागृत पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक अंश का क्षय करता है।

अरस्तू

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने उपर्युक्त दोनों तथ्यों को स्वीकार करते हुए कविता को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने दो सिद्धान्तों को जन्म दिया —

१–अनुकृति सिद्धान्त —[illegible] सिद्धान्त [illegible] अनुकृति-जन्य आनन्द को [illegible] पर [illegible] आनन्द [illegible] था [illegible] अरस्तू [illegible]

ज्ञानार्जनजन्य आनन्द मानता। ज्ञान के [illegible]

होता है। अरस्तू ने प्लेटो के इस आक्षेप का निराकरण [illegible]

कि काव्य अनुकरण मूलक होने के कारण अज्ञान का [illegible]

है या काव्यजन्य आनन्द मिथ्या आनन्द है। शायद ही उन्हें सफलता मिली हो, किन्तु प्रतिपादन में कुछ असंगतियाँ अवश्य आ गई।

'अरस्तू' ने काव्य के सम्बन्ध में विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने विरेचन पर विवेचन करते हुये 'त्रासदी' के बारे में लिखा "त्रासदी किसी गम्भीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसमें करुणा तथा 'त्रास' के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" वस्तुतः अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त केवल त्रासदी पर ही आधारित होने के कारण एकांगी एवं अपूर्ण है। वासनाओं की अभिव्यक्ति भारतीय आचार्य अभिनवगुप्त ने भी मानी है, किन्तु उनका 'अभिव्यक्तिवाद' केवल 'त्रासदी' पर ही आधारित नहीं, सभी प्रकार के काव्यों पर लागू होता है। अतः वह अधिक व्यापक एवं गहन है। इस दृष्टि से 'विरेचन' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' करते हुए, उसे अधिक व्यापक एवं गहन रूप दिया जा सकता है। त्रुटियों के होते हुये भी अरस्तू का काव्य-विवेचन बहुत प्रौढ़ है। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों एवं उसके तत्त्वों की बहुत स्पष्ट रूप में व्याख्या की है। इसीलिए वे समस्त पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं।

लोंजाइनस

लोंजाइनस ने काव्य में उदात्त-तत्त्व का विवेचन किया। उन्होंने उदात्तता या औदात्य को ही काव्य के आत्म-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—"सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठ कर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ हमने सुना है, वह स्वयं अपनी ही कृति हो।" अस्तु उनके विचार से काव्यजन्य आनन्द का मूल-कारण काव्यगत औदात्य ही है। जिसके उन्होंने पाँच उद्गम स्रोत बताये हैं :—

१. विचारों की महानता।

२. भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन।

३. अलंकारों की समुचित योजना।

४. उत्कृष्ट अभिव्यक्ति।

५. गरिमामय रचना विधान ।

इन सभी स्रोतों के पीछे वस्तुतः लेखक या कवि के व्यक्तित्व की महानता निहित होती है, क्योंकि उनके विचार से महान आत्माओं की वाणी से ही औदात्य की झंकृति होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने साहित्य के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसीलिये उन्हें प्रथम स्वच्छन्दतावादी या व्यक्तिवादी आलोचक होने का गौरव प्राप्त है।

इस काल के सभी आचार्यों में 'होरेस' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्वों पर प्रकाश डालते हुए 'औचित्य' पर विशेष बल दिया है। उनके शब्दों में "यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नहीं, तो सम्पूर्ण भूमिवासी उच्च-वर्ग के हों या निम्नवर्ग के—"उस पर जी खोलकर हँसेंगे।" वस्तुतः उनका 'औचित्य-तत्त्व' स्वाभाविकता, संगति, सामञ्जस्य आदि गुणों को ही समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। आगे चलकर सिसरो, क्विण्टिलियन, डिमैट्रियस आदि आचार्यों ने शैली पक्ष पर अधिक बल देते हुए अलंकार एवं गुण-दोषों की विवेचना विस्तार से की है। अलंकारों के सूक्ष्म-विश्लेषण की दृष्टि से समस्त पाश्चात्य-काव्य-शास्त्र में क्विण्टिलियन एवं डिमैट्रियस का सर्वोच्च स्थान है।

अस्तु, इस काल में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का सर्वांगीण विकास परिलक्षित होता है। प्लेटो से डिमैट्रियस तक विभिन्न आचार्यों ने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया, उसकी आस्वादन-प्रक्रिया, उसके भाव-पक्ष, विचार-पक्ष, शैली-पक्ष आदि विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए अनेक नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

मध्यकाल—इस काल में बौद्धिक चिन्तन को बहुत महत्त्व दिया गया।

दान्ते

इस युग के साहित्य-चिन्तकों में मुख्यतः इटैलियन साहित्यकार दान्ते का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने एक ओर अपने 'डिवाइन कामेडी' में अन्य पद्धति की सम्यक्रूप से प्रतिष्ठा की, तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने परम्परागत मृतभाषा के

पर जीवित जनभाषा का प्रयोग उचित समझा। काव्य के सम्बन्ध में निर्णय देते हुये तीन विषयों को युद्ध प्रेम और नैतिक-सौन्दर्य को उत्तम घोषित किया। काव्य-शैली का भी उन्होंने निजी दृष्टिकोण से विवेचन करते हुए अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए। अस्तु दान्ते ने काव्यशास्त्र के कई पक्षों पर नए विचार प्रस्तुत किए, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक युग—पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपात करने का श्रेय । अधोलिखित विद्वानों को प्राप्त है—

फिलिप सिडनी

फिलिप सिडनी ने Defence of Poesy में सुधारवादियों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए कहा कि कविता अनाचार और अनैतिकता का प्रचार करती है । आपने नीतिवादियों के आक्षेपों का खण्डन करते हुये कहा कि काव्य मनुष्य को सभ्य और सुसंस्कृत बनाता है । वह नैतिकता की शिक्षा, प्रभावशाली ढंग से दे सकता है तथा वह आदर्श एवं श्रेष्ठ जगत की कल्पना प्रस्तुत करता है । इस प्रकार 'सिडनी' ने अपने लेख के माध्यम से काव्य सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोणों को बदलने का स्तुत्य प्रयास किया ।

ड्राइडन

सत्रहवी शताब्दी के आलोचकों में 'ड्राइडन' का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में अनेक नूतन स्थापनायें प्रस्तुत की, जो इस प्रकार है—

१. कवि का कार्य जीवन को स्वाभाविक रूप में चित्रित करना है ।
२. कविता का मुख्य लक्ष्य आनन्द देना, शिक्षा देना गौण है ।
३. कवि बिम्बों के माध्यम से भावनाओं का चित्रण करता है ।
४. कवि कल्पना-शक्ति के आधार पर काव्य रचना करता है ।
. अरस्तू के "सकलन-त्रय" का निर्वाह आवश्यक नहीं है ।

डन की इन नई मान्यताओं के कारण परम्परागत धारणाओं पर हुआ । विशेषत. कवि-कल्पना-सम्बन्धी मत से अरस्तू का अनुकृति नराधार सिद्ध हो जाता है।

पोप

अठारहवीं शती के साहित्य-चिन्तकों में पोप, जानसन, लेसिंग, शिलर
र गेटे का महत्वपूर्ण स्थान है। पोप ने कविता में स्वाभाविकता एवं भावात्म-
ता को प्रमुखता प्रदान की—"प्रकृति की भाँति कविता भी जो हमारे मन
ो प्रभावित करती है उसके पृथक्-पृथक् अंग प्रत्यंगों की सुडौलता ही नहीं
ती, वरन् सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की सत्ता
।" पोप ने स्वाभाविकता एवं सहजता का अनुमोदन करते हुए भी काव्या-
ास का समर्थन किया। इस प्रकार साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध
र उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

डा० जानसन

डॉ० जानसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने गये हैं। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करते हुये उनका दृढ़ता-पूर्वक समर्थन किया। उन्होंने कहा, "काव्य न केवल आनन्द प्रदान करता है, वह हमें शिक्षा भी प्रदान करता है।" प्राचीन और नवीन के बीच उन्होंने समन्वयवादी मार्ग अपनाया "लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में भेद करना होना चाहिए—इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे।" अपनी नीतियों के कारण उन्होंने 'त्रासदी' और 'कामदी' आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का बहिष्कार निर्ममतापूर्वक किया।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक मूलतः साहित्य-सर्जक थे, किन्तु उन्होंने साहित्य की समस्याओं पर भी गौणरूप से विचार किया है।

लेसिंग

लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया। गेटे ने काव्य के विभिन्न रूप-भेदों और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुये क्लासिक काव्य को स्वस्थ प्राणवान एवं आनन्दमयी तथा रोमांटिक काव्य को रुग्ण, दुर्बल एवं विकृत सिद्ध किया। कविता की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भी उन्होंने मौलिक सामग्री की अपेक्षा परम्परागत वस्तु को ही

पर जीवित जनभाषा का प्रयोग उचित समझा। काव्य के सम्बन्ध में निर्
देते हुये तीन विषयों को युद्ध प्रेम और नैतिक-सौन्दर्य को उत्तम घोषित किया
काव्य-शैली का भी उन्होंने निजी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए अनेक म
त्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए। अस्तु, दान्ते ने काव्यशास्त्र के कई पक्षों पर न
विचार प्रस्तुत किए, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक युग—पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपा
करने का श्रेय। अधोलिखित विद्वानों को प्राप्त है—

फिलिप सिडनी

फिलिप सिडनी ने Defence of Poesi में सुधारवादियों के आक्षे
का निराकरण करते हुए कहा कि कविता अनाचार और अनैतिकता का प्रचा
करती है। आपने नीतिवादियों के आक्षेपों का खण्डन करते हुये कहा कि का
मनुष्य को सभ्य और सुसंस्कृत बनाता है। वह नैतिकता की शिक्षा, प्रभा
शाली ढंग से दे सकता है तथा वह आदर्श एवं श्रेष्ठ जगत की कल्पना प्रस्
करता है। इस प्रकार 'सिडनी' ने अपने लेख के माध्यम से काव्य सम्बन्
परम्परागत दृष्टिकोणों को बदलने का स्तुत्य प्रयास किया।

ड्राइडन

सत्रहवीं शताब्दी के आलोचकों में 'ड्राइडन' का नाम विशेष उल्लेखनी
है। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में अनेक नूतन स्थापनायें प्रस्तुत कीं, जो इस
प्रकार हैं—

१ कवि का कार्य जीवन को स्वाभाविक रूप में चित्रित करना है।
२ कविता का मुख्य लक्ष्य आनन्द देना, शिक्षा देना गौण है।
३ कवि शब्दों के माध्यम से भावनाओं का चित्रण करता है।
४ कवि कल्पना-शक्ति के आधार पर काव्य रचना करता है।
५ अरस्तु के 'संकलन-त्रय' का विशेष आग्रह नहीं है।

ड्राइडन की इन नई मान्यताओं के कारण परम्परागत धारणाओं का
[illegible] हुआ। [illegible] कवि-कल्पना-सम्बन्धी मत में अरस्तु के
सिद्धान्त [illegible]

दाम्पत्री सदी के साहित्य-चिन्तकों में पोप, जानसन, लेसिंग, शिलर
टे का महत्वपूर्ण स्थान है। पोप ने कविता में स्वाभाविकता एवं भावात्म-
ो प्रमुखता प्रदान की—"प्रकृति की भांति कविता भी जो हमारे मन
ि न करती है, उसके पृथक्-पृथक् अंग प्रत्यंगों की सुडौलता ही नहीं
वरन् सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा
पोप ने स्वाभाविकता एवं सहजता का अनुमोदन करते हुए भी व्याख्या-
का समर्थन किया। इस प्रकार साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध
होने समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

जानसन

डॉ० जानसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने गये
उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करते हुये उनका दृढ़ता-
, समर्थन किया। उन्होंने कहा, "काव्य न केवल आनन्द प्रदान करता है,
हमें शिक्षा भी प्रदान करता है।" प्राचीन और नवीन के बीच उन्होंने
-- वादी मार्ग अपनाया "लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में
करना होना चाहिए—इन दोनों का भेद उसे हृदयगम कर लेना चाहिए,
से वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न
।" ··· अपनी नीतियों के कारण उन्होंने 'त्रासदी' और 'कामदी' आदि
सम्बन्ध में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का बहिष्कार निर्ममतापूर्वक किया।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक मूलतः साहित्य-सर्जक थे, किन्तु
होंने साहित्य की समस्याओं पर भी गौणरूप से विचार किया है।

सि .

लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया। गेटे ने काव्य के
ि रूप-भेदों और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण
ते हुए क्लासिक काव्य को स्वस्थ प्राणवान एवं आनन्दमयी तथा रोमांटिक
। को रुग्ण, दुर्बल एवं विकृत सिद्ध किया। कविता की विषय-वस्तु के
में भी उन्होंने मौलिक सामग्री की अपेक्षा परम्परागत वस्तु को ही

परिवर्तन एवं संशोधन करने की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी काव्य चिन्तकों का बहुत महत्त्व है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे विचारकों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करते हुए स्वच्छन्दता वैयक्तिता एवं आनन्द वादिता के स्थान पर पुनः मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया—इनमें मैथ्यू आर्नाल्ड, रस्किन, टॉल्स्टॉय आदि प्रमुख थे।

आर्नाल्ड

आर्नाल्ड ने साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार करते हुये नैतिक मूल्यों एवं मानवहित को काव्य के लिये श्रेयस्कर सिद्ध किया। उन्होंने काव्य की विषय वस्तु के रूप में भी उदात्त-कार्यों एवं चिरन्तन भावनाओं को अपनाए जाने का समर्थन किया।

आर्नाल्ड की ही भाँति रस्किन और टॉल्स्टॉय ने भी कला और साहित्य को जीवन के उच्च आदर्शों से सम्बन्धित किया। जहाँ रस्किन ने कला को आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्वों की अभिव्यक्ति के एक पवित्र माध्यम का रूप दिया, वहाँ टॉल्स्टॉय ने उसे हमारी उदात्त भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति से 'युक्त' सिद्ध किया। अस्तु, इन आचार्यों ने काव्य की लोक हितवादी दृष्टिकोण से व्याख्याएँ प्रस्तुत की।

बीसवीं शताब्दी का काव्यशास्त्र विभिन्न वादों एवं बहुमुखी प्रवृत्तियों से ग्रस्त रहा है। इनमें मुख्यतः कलावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्लेषणवाद, समाजवादी या प्रगतिवादी-विचारधाराएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन वादों एवं प्रवृत्तियों के उन्नायकों ने एकांगी-दृष्टिकोण से साहित्य की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की, जो परस्पर विरोधी हैं। इनसे साहित्य का स्वरूप स्पष्ट कम हुआ है, उसके सम्बन्ध में मिथ्या धारणाओं एवं भ्रान्तियों का प्रचार अधिक हुआ है। इन मतान्तरों के कारण आज समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। जिस तत्त्व को एक आचार्य गुण मानता था, उसी को दूसरा आचार्य दोष मानता था। ऐसी परिस्थिति में

आई० ए० रिचर्ड्स, हर्बर्ट रीड, एफ० एल० ल्यूकस जैसे विद्वानों ने साहि
शास्त्र को विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर व्यवस्थित रूप देने
प्रयास किया। किन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य बाकी है। श्री हरबर्ट रि
तथा अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दो
चलाया, जो वर्तमान परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुतः
साहित्य-शास्त्र को देशकाल की सकीर्ण सीमाओं से मुक्त करके व्यापक वैज्ञानि
आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर भी साहि
मूल्यों की पुनःस्थापना एवं साहित्यिक एवं असाहित्यिक तत्वों का निर्ण
सम्यक् रूप से किया जा सकेगा।

१ | आलोचना की परिभाषा

'आलोचना' शब्द 'लुच्' धातु से बना है (आ+लुच्+युच्+टाप्)। लुच् का अर्थ है 'देखना'। इसे इस रूप में ग्रहण किया जाता है कि किसी कृति को देखना। देखने से अभिप्राय है कि उसकी व्याख्या करना एवं सम्यक मूल्यांकन करना।

आलोचना के प्रारम्भिक काल में 'आलोचना' का अर्थ केवल छिद्रान्वेषण ही समझा जाता रहा है अर्थात् किसी कृति के दोष एवं न्यूनता मात्र को स्पष्ट कर लेखक से एक सर्वदा विरोधी दृष्टिकोण रखते हुए उसकी कृति पर आहार-प्रहार करना था। छिद्रान्वेषण का यह संकुचित अर्थ आलोचना के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित एवं उसके स्वरूप को अत्यन्त विकृत बना देता था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नवीन विचारधारा के अनुसार आलोचना का अर्थ किसी रचना विशेष की विशेषताओं की ओर संकेत करके न्यूनताओं की ओर आँखें फेरना ही नहीं, उस पर आवरण डालना ही आलोचना का धर्म समझा गया, पर इन चरमपन्थियों का मत भी सर्वमान्य न हो सका।

एक वर्ग के विद्वानों द्वारा किसी रचना की मात्र विशेषताओं को स्पष्ट करना हितप्रद नहीं समझा गया, क्योंकि न्यूनताओं के प्रकाशन न होने से रचनाओं को श्रेष्ठता की सीमा में ही रखना माना जाता है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थकों का कहना था कि यदि मात्र न्यूनताओं की ओर ही संकेत किया गया तो श्रेष्ठ साहित्य की रचना युग में कभी नहीं हो सकेगी और लेखकों का दल अपनी रचना के पर्याप्त स्वागत न होने एवं उचित मूल्यांकन के अभाव में निराशा एवं कटुता के वातावरण में लेखन-कार्य से विमुख हो जायेगा। इस विरोधाभास की स्थिति में एक समन्वित-विचारधारा का प्रतिपादन किया गया, जिसके अनुसार किसी कृति की विशेषताओं एवं न्यूनताओं

दोनों की ओर संकेत करना आलोचना का अर्थ समझा जाने लगा।

कुछ समय पश्चात् आलोचना के अर्थ में परिवर्तन हुआ और यह मत निश्चित किया गया कि आलोचना को तुलनात्मक पद्धति अपनानी चाहिये। अर्थात् आलोचना का वास्तविक अर्थ यह होना चाहिए कि—

"आलोचना सिद्धान्तों के आधार पर, प्रचलित मान्यताओं के आधार पर और उसी क्षेत्र एवं स्तर की दूसरी पुस्तक से किसी रचना विशेष की तुलना करके अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में अपना निर्णय मात्र दे दे।"

परन्तु कुछ आलोचकों ने आलोचना का अर्थ यह भी लगाया कि किसी कृति की परख ज्यों-की-त्यों करने में ही आलोचना के अर्थ की चरम अभिव्यक्ति होती है। इसके साथ ही यह प्रश्न उठाया गया कि इस परख की कसौटी क्या होनी चाहिए ? किन्तु इस प्रश्न का समुचित उत्तर न मिल सकने के कारण जिस तीव्र-गति से यह प्रश्न उठाया गया था उसी गति से यह विचार-ग्रस्त वातावरण में समाप्त हो गया।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अलावा एक अन्य विचारधारा भी प्रचलित हुई

"But criticism, real criticism is essentially the exercise of this Very qwality curiosity and disinterested lone of a free Play of mind it obeys an instinct prompting to try know the hest is known and thorght in the World"

—Mathue Arnold"

"वास्तविक आलोचना इस सृष्टि के सोच और ज्ञातव्य के सर्वोत्तम स्वरूप का अन्वेषण करने का साधन है।"

वस्तुतः विभिन्न-विचारधाराओं के मध्य प्रश्न उठता है कि आलोचना का वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए ? आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अराजकता का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। आलोचकों में अलग-अलग विचार-धाराओं को लेकर विभिन्न वर्ग बन गए हैं। इस प्रकार [illegible] आलोचकों के वर्ग बन चुके हैं, जिनके फलस्वरूप आलोचना हिन्दी के विकास-पथ में सबसे बड़ी अवरोधक शक्ति के रूप में प्रमाणित हो रही है। किसी लेखक की अच्छाई-

गई और उसकी श्रेष्ठता का निर्णय आज इस आधार पर किया जाता है कि अमुक लेखक किस वर्ग अथवा स्कूल से सम्बन्ध रखता है और उस वर्ग अथवा स्कूल की सक्षमता कितनी है ? प्रचार एवं प्रसार कितना है ?

हमारा आधुनिक साहित्य अधिक पुराना नहीं, मात्र अस्सी-नब्बे वर्ष पुराना है, जब कि विश्व तथा विशेषतया पाश्चात्य साहित्य में जिन प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं की स्थापना हो चुकी थी, उनका उत्थान और पतन वहाँ का साहित्य देख चुका था और आवश्यकतानुसार संशोधन-परिशोधन कर अथवा समयानुकूल न होने पर सर्वथा नवीन धारणाओं को जन्म दे चुका था, वैसी स्थिति आज हमारे साहित्य की है।

अतः आलोचना का ऐसी स्थिति में यह प्रमुख कार्य होना चाहिए कि प्रगतिशील जीवन मूल्यों को पूर्ण लेखकीय ईमानदारी के साथ मूर्त कलात्मकता में परिपूर्ण अभिव्यक्ति एवं प्राण प्रदान किए जाएँ।

"The criticism to direct and dumbe and efficacious. The valuation of the poet is expressed by the place he has voluntarily accoroded in tribal society, the valuation of the poems by their repetition and survival".--"Gristopher Codwell"

साहित्य निर्माण का महान उत्तरदायित्व आलोचक एवं साहित्यकार दोनों पर है। अतः आलोचना का वास्तविक अर्थ होना चाहिए वह मूल्य-मर्यादा रहित साहित्य की उपेक्षा कर (चाहे वह जिस किसी भी द्वारा लिखा गया हो) श्रेष्ठ निर्माणोन्मुख एवं प्रगतिशील तत्वों को आत्मसात् करने वाले साहित्य का उचित मूल्यांकन कर उसके रचनाकारों को उचित दिशा निर्देश करे। कला का सत्य कहाँ तक प्राप्त कर सका है और पाठक के ऊपर कहाँ तक प्रभाव डाल सका है, इसे स्पष्ट करना ही आलोचना है।

आलोचना का अर्थ आलोचक की अपनी रुचि नहीं साहित्य की श्रेष्ठता एवं प्रगतिशील मानदण्ड होना चाहिए। श्रेष्ठ आलोचक श्रेष्ठ कृतियों को श्रेष्ठ घोषित करने में कभी संकोच नहीं करते और न सीमित परिवेश में ही उसकी समीक्षा करते, चाहे वह उन्हें रुचिकर प्रतीत हो या न हो।

आलोचना के प्रकार

साधारणतया कहा जा सकता है कि जितने प्रकार के साहित्यिक विष होंगे उतने ही प्रकार की आलोचना पद्धति भी होगी। किसी कृति की आलोचना करते समय आलोचक किन बातों का विशेष ध्यान रखता है, उस रचना का उसके मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है और किस सीमा तक वह उससे प्रभावित होता है, आलोचना का स्वरूप बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर करता है। ये सभी प्रश्न आलोचक के दृष्टिकोण से सम्बन्धित होते हैं और आलोचना के प्रकार आलोचक के इसी दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण निर्मित हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का जन्म होता है अतः आलोचना के वर्गीकरण की समस्या इसी दृष्टिकोण से सम्बन्धित है और यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक, मानसिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, रचनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, समाजवादी, या कलावादी कुछ भी हो सकता है। आज हिन्दी में अनेक प्रकार की आलोचना पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है जो इस प्रकार हैं—

१. ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली
२. व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली
३. निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली
४. नैतिक आलोचना प्रणाली
५. परिचयात्मक आलोचना प्रणाली
६. तुलनात्मक आलोचना प्रणाली
७. जीवन वृत्तात्मक आलोचना प्रणाली
८. [illegible] आलोचना प्रणाली
९. [illegible] आलोचना प्रणाली
१०. सिद्धान्त प्रधान आलोचना प्रणाली
११. प्रभावात्मक आलोचना प्रणाली
१२. [illegible] आलोचना प्रणाली
१३. वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली

१४. प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-प्रणाली
१५. अभिव्यजनावादी आलोचना-प्रणाली
१६ मनोविश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली
१७. प्रगतिवादी आलोचना-प्रणाली

१. ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली का आधुनिक युग मे खूब प्रचार एव प्रसार हुआ है। साहित्य वस्तुतः जीवन की आलोचना करने के साथ ही समकालीन युग की परिस्थितियों से भी घनिष्ठ-रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति भी इन युगीन परिस्थितियों से अपने को पूर्णतया अलग-स्थिति मे नही कर पाता। वह एक प्रकार से युग-सापेक्ष ही होता है और उस पर समकालीन परिस्थितियों का ही साहित्य की भांति गहन प्रभाव पड़ता है। साहित्य और युग के मध्य परस्पर इन सम्बन्धों के स्पष्टीकरण करने का कार्य ऐतिहासिक आलोचना करती है।

ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली वातावरण तथा देशकाल का पूर्ण विवरण अपने सामने रखकर आलोचना प्रक्रिया में संलग्न होती है। इस आलोचना-प्रणाली का प्रयोग प्रमुख रूप से अंग्रेजी-साहित्य के प्रमुख इतिहासकार विद्वान 'टेन' Tenn ने किया है इन्होंने साहित्य के अध्ययन के लिए तीन तत्वों का विवेचन अवश्य माना है।

1. Race जाति
2. Milieu परिवेश
3. Moment समय-बिन्दु

'टेन' के इस सिद्धान्त के फलस्वरूप साहित्यालोचन को नवीन भाव-भूमियाँ प्राप्त हुई और युगीन परिस्थितियों में जातीय चेतना की पृष्ठभूमि में साहित्य का सन्तुलित अध्ययन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इस समीक्षा प्रणाली में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि किसी रचना ने युग के साहित्यिक, सांस्कृतिक, एवं सामाजिक उत्थान पर अपना प्रभाव किन अंशों में डाला है। यदि यह प्रभाव अधिक मात्रा में है, तो निश्चय ही वह कृति श्रेष्ठ है और यदि नहीं, तो वह कृति निम्न श्रेणी की है।

साहित्य विचारकों एव चिन्तकों का ध्यान जाने लगा और इसके फलस्वरूप प्रचार एव प्रसार तीव्रता से हुआ । इंगलैण्ड में इसका प्रचार कॉलरिज ने और ऑर्नल्ड ने किया तथा लोकप्रिय बनाने में पेन्टर का प्रमुख हाथ रहा ।

इस आलोचना-प्रणाली ने आलोचकों को इस बात का निर्देश दिया कि वे किसी रचना की आलोचना करने के पूर्व उसकी अन्तरात्मा में गहरे और तल्लीनता पूर्वक पैठने का प्रयत्न करें और उस वातावरण एव अनुभवों का उद्घाटन करें; जिनकी छाया में कलाकार ने उस रचना-विशेष का सृजन किया होगा और तभी वे आलोचना का मुख्य उद्देश्य पूर्ण कर सकेंगे ।

यह आलोचना-प्रणाली समीक्षा के व्यक्तिगत मान-दण्डों की स्थापना पर बल देती है । यह रचनाओं में निर्णयात्मक आलोचना की भाँति ऊँच-नीच का भेद नहीं मानती । यह साहित्यकार या कलाकार की अपनी सृष्टि की विशेषताओं को अस्वीकार न कर उन्हें प्रोत्साहन देती है । यह नियमों को प्रगतिशील और परिवर्तनशीलता के नियमों से प्रभावित स्वीकार करती है । गोल्टन के अनुसार—

"व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली में साहित्य की परीक्षा शुद्ध अन्वेषण के वातावरण में होती है इस आलोचना-प्रणाली का जन्म तभी होता है, जब किसी रचना की आलोचना करने के समय इतिहास का तथा उसमें भी पूर्व इतिहास का आश्रय ग्रहण कर उसकी रचना का मूल्याकन किया जाता है ।"

यह प्रणाली प्रत्येक रचना को आलोचना के लिए स्वतन्त्र इकाई स्वीकार करती है । इस प्रणाली के दो मुख्य तत्व हैं—

१. वैज्ञानिक यथातथ्य भाव

२. वैज्ञानिक तटस्थता

इस प्रणाली में आलोचक एक वैज्ञानिक की भाँति किसी रचना की आलोचना करता है और निःसग भाव से उसकी समीक्षा करता है । इसका कारण यह है कि कला की मूलप्रेरणा, उद्देश्य प्राप्ति तथा उसकी श्रेष्ठता एव उपयोगिता का निर्णय केवल व्याख्या द्वारा ही सम्भव हो सकता है । अतः आलोचक जिस कृति को आलोचना के लिए उठाए पहले उसे उस रचना के मूलभावों

तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए, जो स्वयं कलाकार की मानसिक स्थिति में पूर्ण-तादात्म्य रखता हो और जिससे प्रेरणा ग्रहण करके कलाकार ने अपनी कला का सृजन किया हो। आलोचक में यह सामर्थ्य तभी सम्भव है, जब उसमें प्रेषणीयता के भावों के साथ उदारता एवं भावनात्मकता अनिवार्य रूप से विद्यमान हो। उसके व्यक्तित्व में उदात्तीकरण की अनुपम प्रवृत्ति होनी चाहिए तथा दूसरे के भावों एवं प्रेरणाशक्ति के स्रोतों को ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिए। व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक अन्वेषक के रूप में होता है।

हिन्दी में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को व्याख्यात्मक आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात करने का श्रेय प्राप्त है। सूर तुलसी और जायसी पर लिखी गई उनकी आलोचनाएं इसी प्रकार की हैं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आधुनिक युग में काव्यात्मक आलोचना-प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

३. निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली

सुनिश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन करना निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली कहलाती है। एक लेखक के लिए निर्धारित नियमों का पालन करना उसी प्रकार अनिवार्य होता है। जिस प्रकार साधारण नागरिकों को शासकीय विधानों का पालन करना होता है। प्रणाली का मुख्य उद्देश्य निर्णय करना है।

इस आलोचना-प्रणाली को स्वीकार करने वाले आलोचकों के दो वर्ग हैं—एक वर्ग परम्परागत आलोचकों का है, जो इस बात में विश्वास रखता है कि जो कुछ प्राचीन साहित्य में रचा गया है और प्राचीन साहित्यकार हुए हैं, वही श्रेष्ठ हैं अद्वितीय हैं, भविष्य में अथवा वर्तमान काल में न तो उतने श्रेष्ठ साहित्य की रचना ही हो सकती है और न उतने अद्वितीय साहित्यकार ही हो सकते हैं। ऐसे आलोचकों के अनुसार अब पुन. 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की रचना नहीं हो सकती और न उतनी अद्वितीय रचनाएं रची जा सकती। प्रश्न यहाँ स्वभावतः यह उठता है कि फिर क्या वर्तमानकाल अथवा भविष्य में ऐसी श्रेष्ठ रचनाएँ

कभी रची जा सकेगी ? यदि रची जा सकेगी तो उसकी रचना का आधार क्या होगा ? इस वर्ग के आलोचकों ने इसका उत्तर अत्यन्त विचित्र ढंग से दिया है। उनके अनुसार वर्तमान काल अथवा भविष्य के साहित्यकारों को इन प्राचीन साहित्यकारों का अनुसरण करना पड़ेगा। उनके द्वारा अपनाये गये मार्ग के अवलम्बन से ही श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव हो सकती है। पर दूसरा वर्ग इस रूढ़िगत, परम्परागत आलोचकों की मान्यताओं से सहमत नहीं हुआ। इस वर्ग के अनुसार प्राचीन साहित्यकारों का स्थान अद्वितीय तो है, साथ ही उनके द्वारा रचा गया साहित्य भी श्रेष्ठ है, पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भविष्य में ऐसे श्रेष्ठ-साहित्य, की रचना नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में यह वर्ग निराशावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाता। यह वर्ग तो स्वीकार करता है कि इन श्रेष्ठ साहित्यकारों के मार्गों का अनुसरण करना चाहिए, पर यह नहीं स्वीकार करता कि बिना उनके श्रेष्ठ साहित्य की रचना सम्भव ही नहीं है, इस अनुसरण के साथ यह वर्ग यह भी मानता है कि सौन्दर्यपूर्ण सिद्धान्तों का भी समन्वय किया जाना चाहिए, तभी श्रेष्ठ आलोचना सम्भव हो सकती है।

दोष

निर्णयात्मक आलोचना-प्रणाली का बड़ा दोष तो यह हुआ कि उसमे साहित्यालोचन के क्षेत्र मे जीवन, युग, वातावरण एवं समकालीन परिस्थितियों के परीक्षण आदि की ओर से आलोचकों का ध्यान हटा दिया और उन्हें साहित्य के कलापक्ष तक ही सीमित रहने के लिए बाध्य किया। जिसके फलस्वरूप साहित्य के कलापक्ष की ओर ही ध्यान देने के कारण यह आलोचना-प्रणाली एकांगी हो गई। इन आलोचकों ने कलापक्ष की ओर ध्यान दिये जाने का कारण यह बताया कि युगीन-परिस्थितियाँ और युग-सत्य तथा चेतना निरन्तर परिवर्तनशील हैं। भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल मे क्रम से निरन्तर युगीन-परिस्थितियाँ विभिन्न स्वरूप ग्रहण करती रही हैं। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण उन्हें साहित्य का स्थायी मानदण्ड नहीं स्वीकार किया जा सकता और इसीलिए इन आधारों पर साहित्यालोचन भी नहीं किया जाना चाहिए।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्र बन्धुओ ने इस आलोचना का वास्तविक रूप प्रस्तुत किया था और आधुनिककाल मे तो निर्णय देने की जैसे एक सामान्य सी प्रवृत्ति ही आलोचको मे बन गई है। अत कोई भी आलोचक जब तक निर्णय नही देता, तब तक वह अपने आलोचक धर्म को अपूर्ण समझता है। आधुनिककाल मे निर्णयात्मक आलोचना का प्रयत्न खूब हुआ है।

४. नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली मे आलोचक को नियमो अथवा विधानो का पालन नही करना पडता और उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है एक प्रकार से वह अपनी व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि पर ही किसी कृति की समीक्षा करता है। कोई कृति उसे बहुत अच्छी लगती है इतना ही यथेष्ट है और इसीलिए वह रचना आलोचना की कसौटी पर श्रेष्ठ ठहराई जाती है। वह रचना आलोचक को क्यो अच्छी लगती है और उसकी तुलना मे दूसरी रचनाएँ क्यो बुरी लगती हैं; इसका उत्तर देने के लिए आलोचक बाध्य नही होता है। वह तो बस इतना कह कर बात समाप्त कर देता है कि अमुक रचना ने उस पर गहरा प्रभाव डाला है और उसकी मन स्थिति को झकझोर दिया है। इसीलिए वह उस रचना को अन्य रचनाओ से श्रेष्ठ ठहराता है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत साहित्यकार का भावपक्ष किस प्रकार का है, रचनाकार ने कौन सा सदेश अपने पाठको तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है, उस सदेश की क्या उपयोगिता है, युगीन-जीवन, परिस्थितियो एव वातावरण का चित्रण उसकी रचना मे किस स्तर पर हुआ है और इन सबके प्रति कलाकार की ईमानदारी और सत्यता कितनी रही है अथवा साहित्य का कलापक्ष किस स्तर का है, भाषा-शैली और कलात्मकता का निर्वाह किस प्रकार हुआ है, यदि काव्य पुस्तक है तो अलकार रस, छन्द और शिल्प आदि के प्रयोग से सौन्दर्य बोध की वृद्धि किस स्तर पर हुई है, यदि उपन्यास, नाटक आदि की पुस्तक है तो पात्र किस प्रकार के हैं, उनका चरित्र-चित्रण किस प्रकार का है कथानक शिल्प आदि का निर्वाह किस प्रकार हुआ है, आदि कुछ ऐसे मौलिक प्रश्न हैं जिनकी ओर आलोचको का ध्यान बिल्कुल नही जाता। इनसे उनका कोई सम्बन्ध नही

होना । वह अपनी रुचि की ओर रचना के पड़ने वाले प्रभाव की माप करता है । यही नैसर्गिक आलोचना-प्रणाली है ।

५. परिचयप्रधान आलोचना-प्रणाली

पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः पुस्तक-समीक्षा का एक स्तम्भ होता है । जिसमें कृति की विशेषताओं एवं अभावों का विवरण दिया जाता है । यह परिचय प्रधान आलोचना कहलाती है । 'समालोचक', सुदर्शन, 'सरस्वती' आदि पत्रों के माध्यम से इस परिचयप्रधान आलोचना-प्रणाली का सूत्रपात हुआ ।

यह आलोचना का श्रेष्ठ रूप नहीं है । इसमें गम्भीरता की ही प्रधानता रहती है । इसका सम्बन्ध पत्रकारिता से अधिक होने के कारण इस प्रकार की आलोचना-पद्धति पर पत्रकारिता शैली का अधिक प्रभाव पड़ा है । जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें परिचय की ही प्रधानता रहती है, आलोचना तो नाम मात्र की होती है आलोचक किसी भी कृति का परिचय पाठकों को और साहित्य क्षेत्र को करा देता है । आज का परिचयप्रधान आलोचना-प्रणाली का रूप अत्यन्त दूषित हो गया है ।

पत्र-पत्रिकाओं में उन्हीं पुस्तकों की 'समीक्षा' की जाती है, जो उस पत्र के सम्पादक के मित्रों या हितैषियों या उसके वर्ग के लेखकों द्वारा लिखी जाती है । इस प्रणाली में प्रशंसा पक्ष अत्यन्त प्रबल होता है, बेसिर-पैर की बातें की जाती हैं और विश्व की श्रेष्ठ कृतियों के समान स्तर पर रखकर उसके रचनाकार को महान् ठहराने का प्रयत्न किया जाता है । इसका दूसरा रूप भी तब प्रकाशित होता है जब सम्पादक महोदय को अपने विरोधी वर्ग के लेखक को गालियाँ सुनानी होती हैं ।

इस प्रणाली में तर्क-बुद्धि का कोई स्थान नहीं होता है और जो मन में आता है वह दिया जाता है । इस दृष्टि से यह नैसर्गिक-आलोचना-प्रणाली के निकट ठहरती है । एक प्रकार से किसी रचना के सामान्य-परिचय के लिए यह प्रणाली यथेष्ट है ।

६. तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली

इस प्रणाली में कवियों और लेखकों की रचनाओं की तुलना अन्य भाषा

और साहित्य के दूसरे कवियों एव लेखको से की जाती है और उनकी विशेषताओ एव आभावो की समीक्षा की जाती है । दो कवियो अथवा लेखकों की परस्पर तुलना में पाठको के मन मे किसी कवि अथवा लेखक की श्रेष्ठता एव महानता का स्पष्टीकरण किया जाता है । इससे श्रेष्ठता सम्बन्धी प्रचलित भ्रातियो के निराकरण मे सहायता प्राप्त होती है । इस प्रणाली में तुलना के आधार पर एक कवि अथवा लेखक को न्यून महत्व का और दूसरे को उससे श्रेष्ठ महत्व का सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है ।

इस आलोचना-प्रणाली में यदि आलोचक अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त नही कर पाता, तो कभी आलोचना के साथ न्याय नही कर सकेगा । यही प्रवृत्ति इस आलोचना के न्याय-सगत एव तर्क-सगत रूप को कलुषित कर देती है, क्योकि यह तो निश्चित है कि यदि आलोचक के मन मे किसी कवि अथवा लेखक को श्रेष्ठ सिद्ध करने की भावना पहले से ही बनी हुई है तो वह कला एवं रचना-प्रक्रिया को गौण स्थान प्रदान करेगा ।

इस प्रणाली मे व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता है । इसके लिए आलोचक को विभिन्न कालो की युगीन-चेतना, साहित्यिक-प्रवृत्तियों, मानसिक एव आध्यात्मिक विकास सूत्रो का आकलन एवं चिन्तन करना पडता है । जब तक आलोचक का ज्ञान विशद एव व्यापक धरातल पर निर्मित नही होगा, वह इस प्रकार की आलोचना करने मे सफल नही हो सकेगा और न आलोच्य कृति के साथ न्याय कर सकेगा ।

यह आलोचना-प्रणाली यह स्वीकार करती है कि हिन्दी मे इस प्रणाली का प्रारम्भ श्रेष्ठ ढग से आचार्य पद्मसिंह शर्मा कृत 'बिहारी सतसई' की आलोचना से प्रारम्भ हुआ और आज तो इसका प्रयोग खूब होता है, पर तुलना करते समय जो वात सबसे अधिक ध्यान मे रखने की है, वह यह कि तुलना के लिए चुने हुए या चुने गए दोनो लेखकों और रचनाओ का क्षेत्र एक ही हो, प्रवृत्तियाँ एक हों और विषयवस्तु मे मूल-भूत समानता हो, इसकी प्राय. उपेक्षा कर दी जाती है; इसलिए आज होने वाली तुलनात्मक-आलोचना बडी हल्की और हास्यास्पद प्रतीत होती है ।

३. जीवन वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली मे लेखकीय व्यक्तित्व का प्रमुख ध्यान रखा जाता है । इसके प्रवर्तक अंग्रेजी कवि और लेखक जॉन ड्राइडेन माने जाते हैं । इस आलोचना-प्रणाली मे समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए कलाकार के व्यक्तित्व की माप की जाती है । इसका प्रारम्भ कवियों की जीवनी एवं आलोचना लिखने के सन्दर्भ मे हुआ । इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली के मुख्य दोष का परिहार कुछ अंशों मे समाहार होगया, जिसमे कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा की जाती थी । इन आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि जब तक किसी कवि या लेखक के जीवन वृत्तान्तों से हम पूर्णतया परिचित न हों तब तक आलोच्य कृति के साथ पूर्ण-रूप से न्याय नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि या लेखक जो जीवन जीता है उसका प्रभाव उसकी रचनाओं पर गहनतम रूपों मे पड़ता है प्रेमचन्द के जीवन की कथा, उनकी आर्थिक विषमताएँ, उन्होंने जिस शोषण वृत्ति एवं अभिशाप को सहन किया था और अनमेल विवाह की जिस विभीषिका से गुजरे थे, उनका साहित्य इन तथ्यों से अछूता न रह सका ।

अतः जीवनवृत्तान्तीय आलोचकों के अनुसार जब तक इस जीवन से सम्बद्ध परिस्थितियों एवं वातावरण का प्रामाणिक अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक उसकी की गई आलोचना एकांगी एवं दोषपूर्ण होती है । इस प्रकार इस आलोचना-प्रणाली में कला तथा कलाकार की विषमता पूर्ण-परिस्थितियों का समाहार होता है । और उनका समाधान समन्वयात्मक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है । इस आलोचना-प्रणाली के माध्यम से कलाकार और पाठक के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाता है और कलाकार का वास्तविक स्वरूप उपयोगी ढंग से प्रस्तुत हो पाता है ।

प्रायः लेखक सिद्ध करना चाहते हैं कि जो कुछ वे जीते है, भोगते हैं, कुण्ठा अवसाद, हर्ष एवं उल्लास की जिन परिस्थितियों मे वे बनते-बिगड़ते हैं टूटते-बिखरते हैं, उनके साहित्य का इससे कोई सम्बन्ध नहीं । यह आलोचना-प्रणाली लेखकों के इस दावे और घोषणा की परीक्षा कर उसका पर्दाफाश करती है ।

और साहित्य में दूसरे कवि या लेखक से की जाती है और उसकी विशेषताओं एवं अभावों की समीक्षा की जाती है। दो कवियों अथवा लेखकों के पारस्परिक तुलना में पाठकों के मन में किसी कवि अथवा लेखक की श्रेष्ठता या महानता का प्रतिष्ठापन किया जाता है। इसमें श्रेष्ठता सम्बन्धी प्रवृत्तियों के निराकरण में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रणाली में तुलना के आधार पर एक कवि अथवा लेखक को न्यून महत्त्व का और दूसरे को उससे श्रेष्ठ महत्त्व का सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

इस आलोचना-प्रणाली में यदि आलोचक अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं कर पाता, तो कभी आलोचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। यही प्रवृत्ति इस आलोचना के न्याय-मार्ग एवं तर्क-मार्ग को कलुषित कर देती है, क्योंकि यह तो निश्चित है कि यदि आलोचक के मन में किसी कवि अथवा लेखक को श्रेष्ठ सिद्ध करने की भावना पहले से ही बनी हुई है तो वह कला एवं रचना-प्रक्रिया को गौण स्थान प्रदान करेगा।

इस प्रणाली में व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिए आलोचक को विभिन्न कालों की युगीन-चेतना, साहित्यिक-प्रवृत्तियों, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास सूत्रों का आकलन एव चिन्तन करना पड़ता है। जब तक आलोचक का ज्ञान विशद एवं व्यापक धरातल पर निर्मित नहीं होगा, वह इस प्रकार की आलोचना करने में सफल नहीं हो सकेगा और न आलोच्य कृति के साथ न्याय कर सकेगा।

यह आ[illegible] करती है कि हिन्दी में इस प्रणाली का प्रारम्भ [illegible] कृत 'बिहारी सतसई' की आलोचना से [illegible] आज तो [illegible] खूब होना है, पर तुलना करते [illegible] अधिक [illegible] की है, वह यह कि तुलना के लिए चुने [illegible] दोनों [illegible] का क्षेत्र एक ही हो, प्रवृत्तियाँ [illegible] में [illegible] हों, इसकी प्रायः उपेक्षा कर [illegible] आज [illegible] आलोचना बड़ी हल्की और

जीवन वृत्तान्तीय आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली में लेखकीय व्यक्तित्व का प्रमुख ध्यान रखा जाता है। इसके प्रवर्तक अंग्रेजी कवि और लेखक जॉन ड्राइडेन माने जाते हैं। इस आलोचना-प्रणाली में समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कलाकार के व्यक्तित्व की माप की जाती है। इसका प्रारम्भ कवियों की जीवनी एवं आलोचना लिखने के सन्दर्भ में हुआ। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना-प्रणाली के मुख्य दोष का परिहार कर कुछ अंशों में समाहार होगया जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा की जाती थी। इन आलोचकों ने यह प्रतिपादित किया कि जब तक किसी कवि या लेखक के जीवन वृत्तान्तों से हम पूर्णतया परिचित न हों तब तक आलोच्य कृति के साथ पूर्ण-रूप से न्याय नहीं किया जा सकता क्योंकि कवि या लेखक जो जीवन जीता है उसका प्रभाव उसकी रचनाओं पर गहनतम रूपों में पड़ता है प्रेमचन्द के जीवन की व्यथा उनकी आर्थिक विषमताएँ उन्होंने जिस शोषण वृत्ति एवं अभिशाप को सहन किया था और अनमेल विवाह की जिस विभीषिका से गुजरे थे, उनका साहित्य इन तथ्यों से अछूता न रह सका।

अत: जीवनवृत्तान्तीय आलोचकों के अनुसार जब तक इस जीवन से सम्बद्ध परिस्थितियों एवं वातावरण का प्रामाणिक अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक उसकी की गई आलोचना एकांगी एवं दोषपूर्ण होती है। इस प्रकार इस आलोचना-प्रणाली में कला तथा कलाकार की विषमता पूर्ण-परिस्थितियों का समाहार होता है। और उनका समाधान समन्वयात्मक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया जाता है। इस आलोचना-प्रणाली के माध्यम से कलाकार और पाठक के बीच का व्यवधान समाप्त हो जाता है और कलाकार का वास्तविक स्वरूप उपयोगी ढंग से प्रस्तुत हो पाता है।

प्राय: लेखक सिद्ध करना चाहते हैं कि जो कुछ वे जीते है, भोगते हैं, कुण्ठा अवसाद, हर्ष एवं उल्लास की जिन परिस्थितियों में वे बनते-बिगड़ते हैं टूटते-बिखरते हैं, उनके साहित्य का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। यह आलोचना-प्रणाली लेखकों के इस दावे और घोषणा की परीक्षा कर उसका पर्दाफाश करती है।

कर उनकी प्रामाणिकता निर्धारित की जाय—यह गवेषणात्मक या अनुसन्धाना-त्मक कार्य गवेषणाप्रधान आलोचना प्रणाली के अन्तर्गत ही आता है।

इस आलोचना-पद्धति का प्रारम्भ पाश्चात्य प्रभाव एवं पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क में ही माना जाना चाहिए। अनेक अनुसंधान केन्द्रों एवं विश्वविद्यालयों में होने वाले शोधकार्य इसी प्रणाली (गवेषणाप्रधान आलोचना-प्रणाली) के वास्तविक स्वरूप हैं।

इस प्रणाली में अन्वेषण को बड़ा महत्व दिया जाता है। अर्थात् नये तत्त्वों, तथ्यों की खोज करना, जिनमें अभी तक साहित्य संसार अपरिचित था, और जिनके अभाव में अभी तक सम्बन्धित कवि अथवा लेखक की समीक्षा एकांगी थी, इस पद्धति के मुख्य कार्य हैं। इसमें वैज्ञानिकता का बड़ा प्रभाव पड़ता है और प्राप्त तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रणाली की सफलता इसी में अन्तर्निहित रहती है।

९. शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के आदर्शों के अनुसार शास्त्रीय-पद्धति पर किसी कृति की आलोचना करना शास्त्रप्रधान-आलोचना कहलाती है। पुनरुत्थान काल में ही शास्त्रीय आलोचना-प्रणाली की स्थापना हुई। उस काल में ग्रीस और रोम में काव्यात्मक प्रतिभा अपने सर्वोच्चशिखर पर थी और उसका अनु-करण कर काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से कवियों में प्रचलित हो रही थी। इस काल में मध्ययुगीन काव्य, नाटक आदि की अवहेलना की गई और अरस्तू, होरेस, क्विन्टीलियन आदि को महत्व प्रदान कर उनके द्वारा स्थापित किए गए शास्त्रीय नियमों से प्रेरणा ग्रहण की गई। इस दृष्टि से अरस्तू के ग्रन्थ 'POETICS' का उल्लेखनीय स्थान है।

इस प्रकार प्राचीन रचनाओं से प्रेरणा एवं आदर्श का अनुकरण कर काव्य-मीमांसा-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई, जिसके फलस्वरूप शास्त्रीय परम्पराओं का अनुगमन करने और उसी के आधार पर रचनाओं के मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। काव्य में इस प्रवृत्ति के अनुसार कलापक्ष पर विशेष जोर दिया जाने लगा और उक्ति-वैचित्र्य, रस, अलंकार, छन्द

पिंगल, छन्द, चमत्कार, वाक्य-योजना आदि बाह्य पक्षों को ही काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी स्वीकार कर लिया तथा और उन्हीं के आधार पर रचनाओं के श्रेष्ठता का निर्णय किया जाने लगा । इस प्रणाली का आलोचक काव्यगत मूल्यों को बाह्य पक्षों पर आधारित करके ग्रहण करता है ।

भारतवर्ष में शास्त्रीय आलोचना पद्धति का प्रचार एवं प्रसार अत्यन्त प्राचीन है । उस समय स्थापित किए गये साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी नियमों के अनुसार उनसे प्रेरणा प्राप्त करके ही कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थी। हिन्दी में इस आलोचनापद्धति के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्र बन्धुओं को है । इस प्रणाली के अन्तर्गत 'विक्रमांकदेव चरित' 'नैषध चरित' 'हम्मीर हठ' की आलोचना का प्रमुख स्थान है।

पश्चिम में इस आलोचना-पद्धति को 'क्लासिकल आलोचना पद्धति' भी कहा गया है । वहाँ श्रेष्ठ लेखक को निःसकोच क्लासिकल लेखक और उनकी रचनाओं को क्लासिकल रचनाएँ कहा गया । बाद में इस अर्थ का और प्रसार हुआ और उन लेखकों को भी इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाने लगा, जिनमें प्राचीन-गौरव, मर्यादा एवं संस्कृति का चित्रण होता था । इस प्रकार के लेखकों में मन, बुद्धि, भाषा और शैली का श्रेष्ठ एवं प्रौढ़ रूप होना अनिवार्य माना गया । —"टी० एस० इलियट"

इस आलोचना प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि पहले ही यह स्वीकार कर लिया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ निर्धारित कर दी थीं वे एक प्रकार से अंतिम हैं । उनसे श्रेष्ठ कोई और मान्यता नहीं हो सकती । श्रेष्ठ-साहित्य का सृजन इन्हीं मान्यताओं के आधार पर होना चाहिए । पर प्रायः ये नियम रूढ़िता एवं संकीर्णता का परिवेश अपने चारों ओर निर्मित कर लेते हैं और इन दोषों के अतिरिक्त उनका
रण साहित्य-प्रवाह की गतिशीलता एवं प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। साहित्य के गौरव एवं विकास के लिये हानिप्रद एवं दोषपूर्ण होता है।

१०. सिद्धान्तप्रधान आलोचना-प्रणाली

इस आलोचना-प्रणाली में पाश्चात्य-साहित्य-सिद्धान्तों एवं संस्कृत साहित्य-

शास्त्र के सिद्धान्तों के परस्पर समन्वय के आधार पर किसी कृति की आलोचना की जाती है। इन दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों की प्रमुख-विशेषताओं एवं मान्यताओं के आधार पर ही किसी रचना की परख की जाती है। इस दृष्टि से 'नवरस', 'अलंकार प्रकाश', 'काव्य कल्पद्रुम' आदि महत्वपूर्ण हैं। ये ग्रन्थ भरत के रसवाद, भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रट के अलंकारवाद वामन के रीतिवाद, कुन्तक के वक्रोक्तिवाद तथा आनन्दवर्द्धन के ध्वनिवाद के सिद्धान्तों के अनुसार रचे गये हैं। पश्चिमी सिद्धान्तों के आधार पर समालोचना करने की प्रवृत्ति जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' कृत 'समालोचनादर्श' में दृष्टव्य है। यह उनका मौलिक ग्रन्थ न होकर पोप के प्रसिद्ध ग्रन्थ ऐसे, आनक्रिटिसिज्म' का पद्यात्मक अनुवाद है। 'पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी' की पुस्तक 'विश्व-साहित्य' भी इसी प्रकार की पुस्तक है। जिसमें पश्चिमी समालोचनादर्श पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने कई निबन्ध इसी आधार पर लिखे हैं।

११. अनुभवात्मक आलोचना-प्रणाली

निरीक्षण, विश्लेषण एवं वर्गीकरण के आधार पर की गई किसी रचना की आलोचना को अनुभवात्मक आलोचना-प्रणाली कहते हैं। यह आलोचना की सबसे पुरानी प्रणाली है। इस प्रणाली के अनुसार यह सिद्ध किया जाता है कि प्रत्येक रचना का वैज्ञानिक मूल्यांकन सम्भव है, जिसका अनुगमन कर आलोचना साहित्यिक-नियम-विधानों का निर्माण कर सकती है।

इस प्रणाली के अनुकरण में सबसे प्रमुख कठिनाई यह अनुभव की गई कि वैज्ञानिक प्रयोगों में तो स्थायित्व हो सकता है, पर साहित्य के क्षेत्र में यह स्थायित्व सम्भव नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में किसी को बहकाने या बहकने की गुंजाइश नहीं होती है। वहाँ दो और दो मिलकर हमेशा चार ही होंगे, तीन नहीं। पर साहित्य के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी धारणाएँ एवं मान्यताएँ होती हैं, जिनके आधार पर ही व्यक्तियों के मध्य परस्पर भिन्नता प्रतिपादित की जाती है। अपनी इन्हीं भिन्न मान्यताओं एवं धारणाओं के आधार पर

किसी रचना के सम्बन्ध में कोई आलोचक अपना निर्णय देगा ।

१२. रचनात्मक आलोचना-प्रणाली

जब आलोचक किसी रचना विशेष को अपनी अनुभूति के स्तर पर लाकर एक सर्वथा भिन्न और नवीन रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है, जिसमें आलोचक का व्यक्तित्व आलोचना के साथ प्रतिबिम्बित होता है, तो उसे रचनात्मक आलोचना कहते हैं ।

रचनात्मक-साहित्य ही वस्तुतः जीवन की आलोचना है । आलोचक को अपने अध्ययन एवं वस्तुओं को यथार्थ रूप से परखने की दृष्टि की क्षमता से ऐसी विचारधारा को जन्म देना चाहिए और उसका इतना प्रसार करना चाहिए कि रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना, साथ ही नवीन जीवन तत्व प्राप्त हों—

'स्पेंड'

आलोचना और रचना में कोई मौलिक भेद नहीं है और साहित्य के क्षेत्र में वे एक दूसरे के पूरक हैं । एक ही व्यक्ति के व्यक्तित्व में उसने रचना और आलोचना दोनों की ही सम्भावनाएँ परिलक्षित की । किसी कलात्मक कृति की रूप सम्बन्धी व्यवस्था तभी सम्भव है, जब कलाकार में रचनात्मक-प्रतिभा भी हो ।

'टी० एस० एलियट'

"इस आलोचना-प्रणाली की मान्यता है कि कोई भी कवि या लेखक तभी महान बन सकता है जब वह महान आलोचक भी हो । "कला" रचनात्मक प्रक्रिया में आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर्निर्माण में रचनात्मक होती है ।"

रचनात्मक आलोचना-प्रणाली के अनुसार आलोचक बाह्यजगत और अन्तर्जगत का निरीक्षण करता है । कवि में भाव ग्रहण करने की अनुपम शक्ति होती और वह इस सृष्टि में प्रत्येक बात का अनुभव वासना रहित मन से करता ए पूर्वाग्रहों अथवा दुराग्रहों से पूर्णतया मुक्त होता है । बाह्यजगत तथा अन्त- के निरीक्षणोपरान्त वह जो भी अनुभव प्राप्त करता है उनका चिन्तन करता है, इसमें कवि में अन्तर्वर्गीय उत्कर्षण की अनुभूति होती है । ति रचना की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण होती है । इसी स्थिति में रचना

के निमित्त-स्वरूप प्रस्तुत होते हैं। दूसरे शब्दों में इसे आन्तरिक अभिव्यक्ति कहा जाता है जिसमें रचनात्मक-क्रिया स्पष्ट होती है। क्रोचे के अनुसार इस के तीन रूप हैं—संवेदन उद्भावन और साक्षात्कार। पाश्चात्य-कला-चिन्तकों के अनुसार रचनात्मक-प्रक्रिया चेतन और अचेतन क्रियाओं का समन्वित रूप है, जिस पर मनोविश्लेषण का गहन प्रभाव पड़ता है।

रचनात्मक आलोचना के अन्तर्गत आलोचक किसी रचना की आलोचना करते समय पहले यह जानने का प्रयत्न करता है कि लेखक ने अपनी रचना-क्रिया का आधार-स्वरूप कहाँ से प्राप्त किया है। इस निष्कर्ष को निकालकर वह अपनी चेतना में उसे बिठाता है और उस पर मनन एवं चिन्तन करता है। तब जो निष्कर्ष अन्तिम रूप से निकलता है उसे अपने सामने रखता है और तब वह विचार करता है कि इस रचना में ऐसा और क्या संयुक्त कर दिया जाय कि इसकी विशिष्टताएँ और भी बढ़ जाये साथ ही उसकी न्यूनताओं का परिहार हो सके। दूसरे शब्दों में वह उस रचना का स्वरूप और भी मनोरंजक बनाने और उसे श्रेष्ठ साहित्य के रूप में परिवर्तित करने के लिये प्रयत्नशील होता है वह उस रचना को एक सर्वथा नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न करता है। अर्थात् वह रचना का एक प्रकार से पुनर्निर्माण करता है। यही वस्तुतः रचनात्मक आलोचना-प्रणाली कहलाती है।

रचनात्मक आलोचना में विश्वास रखने वाला आलोचक भी वस्तुतः कलाकार होता है और रचनात्मक कलाकार से मात्र चयन की ही दृष्टि से भिन्न होता है। रचनात्मक कलाकार जीवन और प्रकृति से सम्बन्धित दृश्यों का मनन, चिन्तन करके अपनी रचना प्रक्रिया में दत्तचित्त होता है। आलोचक उस रचनात्मक-कलाकार की प्रक्रिया का मनन एवं चिन्तन करता है। दोनों के ही मनन एवं चिन्तन काल्पनिक पृष्ठभूमि पर होते हैं। इस आलोचनात्मक-प्रणाली में किसी रचना का वैसे ही मूल्यांकन किया जाता है जैसे किसी कलाकार के जीवन का।

रचनात्मक आलोचना-प्रणाली में किसी कृति का स्वतन्त्र रूप से अवलोकन होता है। इसमें आलोचक की दृष्टि मुख्यतया कृति के पुनर्निर्माण की ओर

या जा सकता । यह बुद्धि के दिवालियापन के अतिरिक्त और कुछ नही है । प्लेटो के समय से ही यह प्रश्न अत्यन्त विवाद-ग्रस्त रहा है कि साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक-प्रणाली का प्रयोग सम्भव है कि नही । विज्ञान तथा साहित्य एवं कला मे अन्तर है । रिचार्ड्स ने भी इस सम्बन्ध मे काफी विचार किया है । बहुत पहले वैज्ञानिक आलोचना का अविर्भाव हो चुका था, पर वह बहुत प्रचलित नहीं हो सकी । वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली का प्रधान उद्देश्य यह था कि आलोचक द्वारा किये जाने वाला निर्णय व्यवस्थित-ज्ञान द्वारा समर्थित हो । यह प्रणाली अनर्गल एवं आवेगपूर्ण बातों की अभिव्यक्ति के विरुद्ध है पर कोई वैज्ञानिक-प्रणाली साहित्य पर ज्यों की-त्यो आरोपित नहीं की जा सकती । इससे सबसे बडी हानि तो यह होगी कि साहित्य का स्थान गौण हो-जाएगा और विज्ञान प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेगा ।

१४. प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-प्रणाली

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-प्रणाली (Impressionist Criticism) में आत्मप्रधान-समीक्षा को महत्त्व प्रदान किया गया है । यह स्वच्छन्द-व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधारित आलोचना-प्रणाली है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी रचना के प्रति आलोचक की व्यक्तिगत प्रक्रिया क्या होती है, यह आलोचना उसे स्पष्ट करती है । सहज आन्तरिक प्रतिक्रिया कृति का स्वेच्छा पूर्वक ज्ञान और अन्त में उसका मूल्यांकन करना ही इस आलोचना-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य होता है ।

इस प्रणाली में आलोचना की किन्हीं प्रचलित मान्यताओं को नहीं स्वीकार किया जाता । इसमे आलोचक अपनी व्यक्तिगत रुचि को अत्यधिक आश्रय देता है । किसी रचना का जितना ही प्रभाव आलोचक पर अधिक पड़ता है वह उसी के आधार पर किसी रचना की श्रेष्ठता का मूल्यांकन करता है । अतः उसपर पड़े हुए प्रभाव को वह सार ग्रहण करता है और बाद मे उस आधार पर अपनी आलोचना का स्वरूप निश्चित करता है । इस प्रकार इस आलोचना प्रणाली मे साहित्य की प्रेषणीयता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है ।

इस प्रणाली में आलोचक के ये प्रधान कर्तव्य माने जाते हैं --

१. किसी रचना की प्रेषणीयता ग्रहण करने की पूर्ण समर्थता।

२. गृहीत प्रेषणीयता की उचित ढग से माप एवं अभिव्यक्ति।

अर्थात् किसी रचना के प्रभाव को ग्रहण करने, अभिव्यक्ति करने एव दूसरे तक उस प्रभाव को पहुँचाने की शक्ति की श्रेष्ठता पर ही आलोचक की श्रेष्ठ निर्भर करती है।

"इस प्रणाली मे पुस्तक की साहित्यिक-विशेषताओं, उसकी कलात्मक एवं गुणो की अपेक्षा आलोचक के ऊपर पड़े हुए प्रभावों एव उसकी आत्म नुभूतियों को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। —'स्पिनगा'

इस आलोचना-प्रणाली की अनेक सीमाएँ भी हैं। इस प्रवृत्ति का आलोच कला-समीक्षा मे स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाता है और किसी नियन्त्रण को न स्वीकार करता। प्रत्येक आलोचक अपनी-अपनी दृष्टि अपनाने के लिए स्वच्छ न्दता का अनुभव करता है, क्योकि किसी मान्यता अथवा परम्परा या निय का बन्धन स्वीकार करने के लिए वह बाध्य नहीं है।

इससे एक ही कृति के सम्बन्ध मे अनेकानेक मत उपस्थित हो जाते जिससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे समालोचक क निर्णय नही दे पाता वरन् आलोच्य कृति के मन पर पड़ने वाले प्रभाव को बुद्धि वादी रसानुभूति की प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। यही अनुभ है—और इस प्रणाली का दोष है, क्योकि इसमे तर्क संगत या न्याय समीक्षा का स्वरूप नही उपस्थित हो पाता है।

हिन्दी-साहित्य मे प्रभावाभिव्यजक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण ड भगवतशरण उपाध्याय द्वारा गुरुभक्त सिंह कृत 'नूरजहाँ' की समीक्षा मे प्र होता है।

१५. अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणाली

अभिव्यजनावाद के जन्मदाता इटली के सौन्दर्यवादी चिन्तक "बेनेडेटो क्रोचे" हैं। उनकी धारणानुसार चरम सत्य मानस है। सृष्टि की जो शक्तियाँ वि रूप ग्रहण करती है, उनकी आधार-शिला मानस ही है। मन की दो मूल- प्रवृत्तियाँ होती हैं।

१. सैद्धान्तिक मूल प्रवृत्ति
२ व्यावहारिक मूल प्रवृत्ति

सैद्धान्तिक रूप का क्षेत्र ज्ञान है, व्यवहारिक रूप का क्षेत्र क्रिया है। ज्ञान का आधार बुद्धि-तत्त्व नहीं वरन् वह स्वतः उत्पन्न है। यही स्वतः उत्पन्न ज्ञान वस्तु-जगत् की आकृतियों को रूप प्रदान करता है। यह मानस में मूर्ति की कल्पना करता है जो सौन्दर्य-बोध का मूल तत्त्व है। यह आत्मिक अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है। क्रोचे ने अभिव्यंजना को काव्य अथवा कला के रूप में स्वीकार किया है।

"अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है एवं मानस में होती है। सौन्दर्य का आधार रूप Form है। काव्य का एक मात्र उद्देश्य होता है कि वह सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करे। उसके सम्बन्ध में नीति अथवा उपयोगिता की बातें निरर्थक होती हैं।"
—बेनेडेटो क्रोचे

क्रोचे यद्यपि वस्तु की पूर्ण उपेक्षा नहीं करता, पर उसने अपेक्षाकृत अभिव्यंजना को ही महत्त्व प्रदान किया है। अभिव्यंजना के निम्नलिखित चार क्रम क्रोचे ने स्वीकार किए हैं —

१ मन संवेदना
२ मन संवेदनों के उद्बोधन से हमारी आत्मिक अभिव्यक्ति।
३ सुन्दर वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न आनन्दभाव।
४ सौन्दर्य बोध के तत्त्वों का भौतिक तथ्यों में अवतरण।

स्पष्ट है, क्रोचे की समस्त मान्यताएँ कलामात्र से सम्बन्धित है, कलाकृति से नहीं। उसने कला और कलाकृति में अन्तर स्वीकार किया है। उसने सहजानुभूति और अभिव्यंजना का मूलस्वरूप एक ही माना है, क्योंकि सौन्दर्य-भावना आकृति प्रधान है; इसमें आध्यात्मिक-सत्ता के तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। क्रोचे ने मात्र वस्तु में रस-निष्पत्ति और सौन्दर्य-बोध की सत्ता स्वीकार की है। आकृति सौन्दर्य-बोध का आधार तत्त्व है, पर वस्तु की सत्ता की पूर्ण उपेक्षा भी उसने नहीं की है।

क्रोचे के अनुसार सत्य तथा यथार्थ का केवल एक ही केन्द्र है—'मानस'

१. किसी रचना की प्रेषणीयता ग्रहण करने की पूर्ण समर्थता।

२. गृहीत प्रेषणीयता की उचित ढग से माप एवं अभिव्यक्ति।

अर्थात् किसी रचना के प्रभाव को ग्रहण करने, अभिव्यक्ति करने एवं दू तक उस प्रभाव को पहुँचाने की शक्ति की श्रेष्ठता पर ही आलोचक की श्रे निर्भर करती है।

"इस प्रणाली मे पुस्तक की साहित्यिक-विशेषताओं, उसकी कलात्मक एवं गुणो की अपेक्षा आलोचक के ऊपर पड़े हुए प्रभावों एवं उसकी आत्मा नुभूतियो को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। —'शिवनाथ'

इस आलोचना-प्रणाली की अनेक सीमाएँ भी हैं। इस प्रवृत्ति का आलोचक कला-समीक्षा में स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाता है और किसी नियन्त्रण को नहीं स्वीकार करता। प्रत्येक आलोचक अपनी-अपनी दृष्टि अपनाने के लिए स्वच्छ न्दता का अनुभव करता है, क्योंकि किसी मान्यता अथवा परम्परा या नियम का बन्धन स्वीकार करने के लिए वह बाध्य नही है।

इससे एक ही कृति के सम्बन्ध मे अनेकानेक मत उपस्थित हो जाते जिससे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे समालोचक कोई निर्णय नही दे पाता वरन् आलोच्य कृति के मन पर पडने वाले प्रभाव को बुद्धि वादी रसानुभूति की प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। यही अनुचि है—और इस प्रणाली का दोष है, क्योंकि इसमें तर्क सगत या न्यायपू समीक्षा का स्वरूप नही उपस्थित हो पाता है।

हिन्दी-साहित्य में प्रभावाभिव्यजक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण डा भगवतशरण उपाध्याय द्वारा गुरुभक्त सिंह कृत 'नूरजहाँ' की समीक्षा मे प्रा होता है।

१५. अभिव्यंजनावादी आलोचना-प्रणाली

अभिव्यंजनावाद के जन्मदाता इटली के सौन्दर्यवादी चिन्तक "वेनेडेटो क्रो है। उनकी धारणानुसार चरम सत्य मानस है। सृष्टि की जो शक्तियाँ विवि रूप ग्रहण करती है, उनकी आधार-शिला मानस ही है। मन की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं।

है । प्रेमचन्द का व्यक्तित्व वहिर्मुखी था, जबकि जैनेन्द्र का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी है । कलाकार की सृजनात्मक-प्रतिभा को उसके व्यक्तित्व की ये दो विशेषताएँ घनिष्ठ रूप से प्रभावित करती है ।

मनोविश्लेषणवादी आलोचना-प्रणाली का प्रथम प्रयोग जेम्स ने 'हैमलेट' की आलोचना के माध्यम से किया था । इस आलोचना का मुख्य उद्देश्य रचना के पात्रों की मन स्थितियो एव अन्त प्रेरणाओ का मनोविश्लेषण करना है । इस आलोचना-प्रणाली मे नैतिकता, आदर्श अथवा सुरुचि का महत्व पूर्णतया गौण होता है और वास्तविक महत्व आन्तरिक यथार्थ एव प्रेरणाओं को प्रदान किया जाता है । इसमे कला–सृजन की प्रेरणा का श्रोत अन्तर्मन और मानव अवचेतन को स्वीकार करके समीक्षा का प्रारम्भ होता है ।

इस प्रणाली मे आलोचक यह स्वीकार करता है कि औपन्यासिक नायक अथवा नायिका के व्यक्तित्व का निर्माण लेखक की अतृप्त आकाक्षाओ एव अपूर्ण वासनाओं के प्रस्फुटीकरण के रूप मे हुआ है । इस प्रकार किसी कलाकृति का सम्बन्ध कलाकार की चेतना और उसके अवचेतन मन से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया जाने लगा ।

कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल मे दबी हुई भावनाओं का प्रतीक होती हैं । समीक्षा मे मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग उद्देश्य-विहीन और केवल पांडित्य प्रदर्शन की आकाक्षा मात्र नही है, ये सिद्धान्त काव्य के वास्तविक स्वरूप-निरूपण मे तथा उसे स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने की प्रेरणा देने मे सहायक है । काव्य मे अस्वस्थ वृत्तियों की प्रेरणा का उद्घाटन करके उसे स्वस्थ मार्ग पर लेकर चलाना ही इस समीक्षा की उपयोगिता है ।

इस आलोचना-प्रणाली के अन्तर्गत रचना प्रक्रिया का वैयक्तिक दृष्टिकोण, विवशता के परिणामस्वरूप स्वीकार किया जाता है । कलाकार एक वांछित-पथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है, किन्तु उसके पथ का स्वरूप-निर्धारण बाह्य प्रक्रियाओं द्वारा निश्चित नहीं होता है । उसका निर्धारण कलाकार के अपने जीवन की परिस्थितियों, आन्तरिक एव बाह्य वातावरण के परिणाम उत्पन्न विवशता के माध्यम मे होता है । कलाकार की प्रेरणा शक्ति एक

आलोचना का विकास

हिन्दी आलोचना का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है । सर्वप्रथम इ
स्फुट सूक्तियों के रूप में प्रारम्भ हुआ । उदाहरणार्थ–सूरदास के विषय में '
सूर सूर तुलसी-ससी' इसी प्रकार 'नन्ददास' के विषय में 'नन्ददास जड़िया और
गढ़िया आदि उक्तियाँ प्रचलित हुईं । इन उक्तियों का महत्त्व आज के आलो
प्रधान-युग में भले ही न हो किन्तु आलोचना के उद्भव के रूप में इनका ऐ
तिक महत्त्व तो मानना ही होगा । इन सूक्तियों में यह एक बहुत बड़ा दोष
है कि इनमें आलोचक तटस्थ नहीं रह पाये हैं । उनकी वैयक्तिक श्रद्धा
भी कवि को उच्चासन करने में सकोच नहीं करती थी उदाहरणार्थ 'तुलसी
हुओ भये कवियन के सरदार' इस उक्ति में तुलसी के साथ गग कवि को नि
कितनी उपहासास्पद प्रतीत होती है ? उक्त दोष के अतिरिक्त यह भी दोष
कि इस सूक्ति-पद्धति द्वारा कवि या लेखक की अन्य विशेषताओं पर कोई प्र
नही पड़ता । केवल गुणात्मक पक्ष तो अपनी अति सूक्ष्म झाकी दिखला देता
किन्तु दोष पक्ष सर्वथा अछूता रह जाता है ।

वास्तव मे हिन्दी आलोचना के जन्मदाता भारतेन्दु युगीन लेखक प० बा
कृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी माने जाते हैं । इस काल मे 'आनन्दकादम्बि
नामक आलोचनात्मक-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसमे सूक्ति-पद्धति
आगे चलकर इन आलोचकों ने विचारात्मक-पक्ष प्रारम्भ किया ।

जहाँ तक पुस्तकाकार आलोचना का प्रश्न है, इसका श्री गणेश, "द्विवेदी-यु
से माना जाता है । स्वय द्विवेदी जी एक उच्चकोटि के आलोचक थे । इन
समय मे आलोचना के निर्णयात्मक तथा परिचयात्मक, ये दो रूप विशेष प्रचलि
हुए । निर्णयात्मक-आलोचना के रूप मे "कालिदास की निरकुशता" औ
'परिचयात्मक-आलोचना' के रूप मे "नैषधचर्चा" शीर्षक लेख महत्वपूर्ण मा
जाते हैं । इसके अतिरिक्त 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने स्वस्थ
एव वैज्ञानिक आलोचना की परम्परा को जन्म देकर उसका सम्वर्द्धन किया।

द्विवेदी जी के अनन्तर मिश्र बन्धुओं का प्रयास इस दिशा की एक महत्वपूर्ण
कड़ी मानी जाती है । इन्होंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ मे हिन्दी के

...स्वप्रनिष्ठ' नव कवियों की आलोचना लिखी । इसमे इन्होंने कवियों के गुण व दोषों के अतिरिक्त अपनी निणयात्मक शक्ति का भी परिचय दिया किन्तु ...स्वता अथवा निरपेक्षिता का गुण इन आलोचकों मे भी नही प्राप्त होता है ।

मिश्र बन्धुओं के पश्चात् 'पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी-सतसई' की भूमिका मे ...हारी को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित कर दिया इसकी प्रतिक्रिया ...आलोचक 'कृष्ण-बिहारी' ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखकर बिहारी ...'देव'को ऊँचा उठा दिया । जिसकी प्रतिक्रिया मे लालाभगवान दीन ने बिहारी ...और देव' नामक पुस्तक की रचना कर पुन 'बिहारी की श्रेष्ठता का प्रति-...दन कर दिया । इस प्रकार यही से तुलनात्मक-आलोचना का सूत्रपात हुआ ।

वास्तव मे व्याख्यात्मक एव सैद्धान्तिक समीक्षक के रूप मे आलोचक प्रवर रामचन्द्र शुक्ल से वैज्ञानिक-आलोचना का विधिवत सूत्र पात हुआ । इन्होंने 'तुलसी ग्रन्थावली' 'भ्रमरगीत सार' और 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिकाओ मे क्रमश तुलसी, सूर, तथा जायसी की जो विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है, वह आज भी महत्वपूर्ण है । इनके अतिरिक्त "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ मे शुक्ल जी की वैज्ञानिक समीक्षा-शैली के दर्शन होते हैं । 'चिन्तामणि भाग-२ मे शुक्ल जी के सैद्धान्तिक-समीक्षा-सम्बन्धी-निबन्ध सगृहीत है । प्राच्य एव पाश्चात्य आलोचना-शैली का जो समन्वय शुक्ल जी मे मिलता है, वह अन्य समीक्षको मे नही मिलता । अयोध्यासिह ... ने भी कबीर की विस्तृत ...आलोचना लिखकर ... परिचय दिया है ।

आधुनिक युग के नवीन ... सुन्दर दास का महत्व-पूर्ण स्थान है । इन्होंने ... विशेष ध्यान दिया है ... है । इसके अतिरिक्त ... लिखी है और 'हिन्दी-...लोचना-जगत् का बडा

...ताये हैं, जिनमे बाबू-...राव, आचार्य ...

प्रसाद द्विवेदी, डा० सत्येन्द्र, कृष्णशंकर शुक्ल, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, प्रकाश चन्द्रगुप्त, आदि की रचनाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। जहाँ तक पत्रों एवं पत्रिकाओं का प्रश्न है उनमे 'आलोचना' 'कल्पना' 'माध्यम' नागरी प्रचारिणी पत्रिका तथा 'सम्मेलन पत्रिका' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आलोचना का महत्व

आलोचना का उद्देश्य कटुता प्रहार, छिद्रान्वेषण एवं आरोपण-प्रत्यारोपण नहीं है, दिशा-निर्माण का है, सौन्दर्य एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा का है। वास्तव में आलोचना किसी कृति मे कवि अथवा लेखक के उद्देश्यो का अन्वेषण करती है। आलोचना के तीन प्रमुख उद्देश्य माने गये हैं ।—

१—रचना CREATION

२—व्याख्या INTERPRETATION

३—निर्णय JUDGEMENT

"The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing then to furnish rules to pass judgement on what has been written by others" Carllylle"

सूर, तुलसी, कबीर, प्रसाद, प्रेमचन्द आदि ने क्या अपनी रचनाओ के प्रारम्भ करने के पूर्व काव्य, नाटक, उपन्यास, महाकाव्य आदि के रचना-सिद्धान्तो का गहन अध्ययन किया ? कभी नही। श्रेष्ठ साहित्यकार स्वय ही सिद्धान्तो का निर्माण करते हैं।

आलोचना का सर्वप्रमुख उद्देश्य किसी कृति की विशेषताओ एव उसके अभावों को सतुलित एव तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करना तथा ऐसी स्थिति का निर्माण करना है, जिससे पाठको की रुचि परिष्कृत होकर साहित्य-निर्माण एव विकास पथ की ओर अग्रसर हो सके।

आलोचना का मुख्य उद्देश्य है कि वह श्रेष्ठतम् रूप मे साहित्य द्वारा किया जाने वाले इस जीवन की व्याख्या की व्याख्या करे।

सौंदर्य के माध्यम से अनेकरू[illegible] वातावरण मे एकरूपता की स्थिति

उत्पन्न करना आलोचना का उद्देश्य है ।

४ आलोचना का उद्देश्य है कि वह किसी रचना मे छिपे हुए सौन्दर्य-तत्त्वो का अन्वेषण करे और इन तत्त्वो को स्पष्ट करे, जो मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठा करते हैं, सहज मानवीय संवेदनाओ को गौरव प्रदान करते हैं और शोषण एव सहार जैसी प्रकृति की अवरोधक शक्तियो को समूल नष्ट करने के सराहनीय सकल्प से उद्भूत होकर गतिशील होते हैं ।

५. आलोचना का उद्देश्य ऐसे साहित्य की प्रतिष्ठा करना है जो मनुष्य जीवन की यथार्थताओ का ईमानदारी से चित्रण कर समाजवादी रचना प्रक्रिया मे योग दान देता है ।

६. आलोचक समाज का प्रतिनिधि बन कृति को देखता है, समाज को उक्त कृति के मूल्याङ्कित तथ्यो से परिचित कराता है और लोकहित की दृष्टि से उसका मूल्याकन कर लेखक को भी दिशा-निर्देश करता है । आलोचक, लेखक और पाठक के बीच दुभाषिये-का-सा काम करता है और समाज तथा कलाकारो को पारस्परिक सम्पर्क मे लाकर लेखक के साथ ही नये विचारो और भावो को चलने देने मे सहयोग प्रदान करता है ।

राजशेखर–१—सा च कवे श्रममभिप्राय च भावयति । तया खलु फलित. कवेर्व्यापारतरु. ।"

मैथ्यू ऐरनाल्ड–१—Simply to know the best that is known and thought is the world and in its turn making this known to creae a current of true and fresh ideas."

साहित्य के क्षेत्र मे आलोचना का विशिष्ट महत्व है । आलोचना के द्वारा कोई भी कृति प्रकाश मे आती है और पाठक आलोचना पढ़कर ही उसके अध्ययन मे प्रवृत्त होते हैं अथवा निवृत्त होते है ।

यदि ग्रन्थ की स्वस्थ आलोचना की जाती है तो निश्चय ही उससे पाठको का परम उपकार होता है । आलोचना के अभाव मे हम किसी भी कृति को पढ़ने मे सलग्न हो जाते हैं और कभी-कभी पढ़ने के पश्चात् ऐसा अनुभव होता है कि उक्त पुस्तक दो कौड़ी की है और इसके अध्ययन मे हमने अपना अमूल्य

समय व्यर्थ कर दिया है । इसके अतिरिक्त यदि वह पुस्तक स्वयं क्रीत की गई है तो आर्थिक हानि का भी पश्चात्ताप होने लगता है । आलोचना हमें इस आर्थिक अपव्यय एवं सामयिक क्षति से बचाने का काम करती है ।

आलोचना के माध्यम से ऐसी उत्तम-कृतियाँ प्रकाश में आ जाती हैं, जो प्रचार के अभाव में विद्वानों के समक्ष नहीं आ पातीं उदाहरणार्थ यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में जायसी के 'पद्मावत, को इतना न सराहा होता तो क्या जायसी हिन्दी के महाकवियों की श्रेणी में स्थान पा सकते थे और क्या पद्मावत को हिन्दी के महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त हो सकता था ? यह आलोचना की ही महत्ता है कि जिसने ग्रन्थ रत्न "पद्मावत" को अन्धकार के गर्त से निकालकर साहित्य-गगन के जाज्वल्यमान प्रांगण में प्रतिष्ठित कर दिया ।

आलोचना में इतनी महती शक्ति होती है कि वह उत्कृष्ट रचना को भी एकांगी सिद्ध कर सकती है और कविमूर्धन्य को भी सामान्य कवियों की श्रेणी में बिठा सकती है । उदाहरणार्थ महाकवि केशव की रामचन्द्रिका को आचार्य शुक्ल की आलोचना ने 'छन्दों का अजायब घर' सिद्ध कर दिया और महाकवि केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' बना दिया । सारांश यह कि आलोचना साहित्य जगत् अति आदरास्पद है । उससे कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन मिलता है, दूषित कृतियाँ नहीं पनपने पाती, सत् साहित्य की सृष्टि होती है । सामयिक माँग के अनुसार साहित्य का सृजन होता है । वह कला और कलाकार दोनों को सजग रखती है । किसी भी कृति के उद्देश्य को स्पष्ट करती है । कवि तथा पाठक के बीच में एक शृंखला बन कर दोनों में तादात्म्य स्थापित करती है । पाठक के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करती है । कला में सौन्दर्याभिव्यक्ति को प्राधान्य प्रदान कराती है । इस प्रकार साहित्य के ही क्षेत्र में नहीं वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र में आलोचना का विशिष्ट महत्व है ।

समालोचक के कर्त्तव्य और गुण

जिस प्रकार 'यशसे' 'अर्थकृते' 'व्यवहारविदे' 'शिवेतरक्षतये' आदि काव्य उद्देश्य बतलाये गये हैं उसी प्रकार आलोचना के कई उद्देश्य हैं ।

समालोचक का मुख्य उद्देश्य तो पुस्तक का विवेचनापूर्ण परिचय कराकर उसके रसास्वादन मे पाठकों की सहायता करना है। समालोचक इस कार्य की पूर्ति के लिए कई प्रकार के साधनों का उपयोग करते है और काव्य की उत्तमता के निर्णय करने मे कई प्रकार की कसौटियों से काम लेते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग तो यश के लिए ही समालोचनाएँ करते हैं। दूसरों के गुण-दोष निकालने मे लोग सहज मे जनता का चित्त आकर्षित कर लेते है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग 'स्वान्तः सुखाय' के ऊँचे उद्देश्य से भी समालोचना करते हैं।

समालोचना के लिए समालोचक को ऊँचे उद्देश्यों को ही लेकर प्रवृत्त होना चाहिए, किन्तु समालोचक का ऊँचा उद्देश्य होते हुए भी वह अपनी अयोग्यता के कारण लेखक के प्रति अन्याय कर सकता है। इसलिए जब तक अपने कार्य मे क्षमता न हो, समालोचक को किसी की समालोचना करने की अनाधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

समालोचक के आवश्यक गुण :—

समालोचक के कुछ आवश्यक गुणों का वर्णन इस प्रकार है —

१–अन्तर्दृष्टि या पैठ २–सहानुभूति ३–बहुज्ञता ४–धैर्य और निष्पक्षता की वैज्ञानिक मनोवृत्ति ५–औचित्य का ज्ञान ६–प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति।

१–अन्तर्दृष्टि या पैठ (Insight) यह बहुत अंश मे दैवीदेन होती है। जिस प्रकार कविता के लिए शक्ति या 'प्रतिभा' आवश्यक है उसी प्रकार 'भावक' या समालोचक होने के लिये पैठ का होना आवश्यक है पैठ वाला मनुष्य सहज ही कवि के अभिप्राय को ग्रहण कर सकता है जिस प्रकार कवि मानव-जीवन की अन्धतम गुफाओं मे प्रकाश डालकर "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि" की लोकोक्ति को सार्थक कर देता है, उसी प्रकार भावक या समालोचक कवि के अन्तराल मे प्रवेश कर उसमे रक्खे हुये रत्नों को प्रकाश मे लाता है। यह गुण यद्यपि दैवीदेन के रूप मे प्राप्त होता है तथापि अध्ययन और सत्संग से भी थोड़ा बहुत मिल सकता है। इस पैठ के लिए प्रकृत संस्कारों के साथ अध्ययन और सत्संग से प्राप्त शक्ति का आवश्यक है।

शक्ति हुए बिना कविता का रसास्वाद होना कठिन ही नहीं असम्भव है।

इसीलिए तो यह कहा है कि [illegible] [illegible] [illegible], इन्द्र [illegible] (भर्तृहरि)

तटस्थता का अर्थ है आत्मपरक [illegible] की [illegible]। वह आलोचक [illegible] तो न चाहिए कि वह [illegible] करे, किन्तु इसकी इस मात्रा में अवश्य होना चाहिए कि पाठक और लेखक का साक्षात्कार होवे, गुण और दुर्गुणों का [illegible] और [illegible] इस काम में [illegible] समालोचक को [illegible] होना आवश्यक है।

२–सहानुभूति—इस गुण की प्राप्ति के लिए सहृदयता की आवश्यकता है। यदि भावुक सहृदय दृष्टि से किसी रचना को देखता है तो उसे [illegible] यह सहज [illegible] करता है, किन्तु जो लोग छिद्रान्वेषण को ही [illegible] समझते हैं, उनको छिद्र तो अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु वे रत्नों के स्थान पर [illegible] को ही अपनाते हैं। सुधार के लिए छिद्रान्वेषण बुरा नहीं, किन्तु गुणों को [illegible] देना, लेखक को निरुत्साहित कर देना है और भविष्य में उसके द्वारा होने वाली साहित्य-सेवा में बाधक बनना है। इसीलिए भावुक लोग गुणों की खोज करते हैं, दोषों की नहीं, अर्थात् शिव जी की भाँति सुधाकर गुण और अवगुण दोनों को ग्रहण करते हैं, किन्तु चन्द्रमा की भाँति गुणों को शिरपर रख प्रकाशित करते हैं, दोषों को विष की भाँति गले में भीतर रखते हैं, दोषों को दबाना उचित नहीं है किन्तु उनको उसी अनुपात में रखना चाहिये जिसमें वे पुस्तक में हों। दोषों को बढ़ाकर लिखना और गुणों को दबा रखना लेखक के साथ अन्याय है यदि पुस्तक में दोषों का अनुपात अधिक है, तो उसको उसी अनुपात में रख देना चाहिए। संसार में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जोकि जोंक की भाँति केवल दोषों को ही ग्रहण करते हैं। ऐसे लोग जलौकाकृति के कहलाते हैं।

३–बहुज्ञता—बहुज्ञता समालोचक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जितना साहित्य शास्त्र का ज्ञान होता है वह कवि के अभिप्राय को भली-भाँति समझ सकता है, वह साहित्य के संकेतों, रूढ़ियों और कवि-समयों को भली-भाँति जानता है। वह जान लेता है कि कवि कहाँ पर परम्परा का अनुकरण कर रहा है। वह यदि उसमें दोष देखेगा तो कवि के व्यक्तित्व का नहीं, वरन् उस पर-

बहुज्ञ समालोचक किसी कवि या लेखक की कृति पर विचार करते हुए यह भी जान लेगा कि उसने कहाँ तक परम्परा का अनुकरण किया है और कहाँ तक किसी विशेष कवि की विशिष्ट बात की चोरी की है, जो बातें साहित्य-सार की सम्पत्ति है उनका लिखना चाहे चमत्कार का अभाव समझ लिया जाए, किन्तु चोरी नहीं कहला सकता। वह अन्य की चोरी नहीं करता किसी व्यक्ति की ही चोरी करता है।

बहुज्ञ समालोचक न तो किसी कवि से सहज में प्रभावित होगा और न वह सहज में ही किसी की चोरी करेगा। ज्ञानी समालोचक छिपे हुए रत्नों की खोज करेगा, उत्तम रत्नों पर मुग्ध हो जायेगा किन्तु वह साधारण रत्नों के प्रभाव से प्रभावित नहीं होगा। जिसने बहुत नहीं पढ़ा है वह साधारण से साधारण बात को अनूठी बताने को तैयार हो जायेगा। समालोचक की बहुज्ञता 'अप्रशंसनशीलता' (Niladmirari) अर्थात् किसी की प्रशंसा न करने की मनोवृत्ति में परिवर्तन न होनी चाहिए। आलोचक को उस सम्बन्ध में बहुत सन्तुलित रहना चाहिए। आलोचक जहाँ तक हो सृष्टा न हो, नहीं तो वह अपनी कृति के आगे अन्य की कृति को महत्व नहीं देगा। समालोचक के लिए बहुज्ञता के अतिरिक्त विशेषज्ञता की भी आवश्यकता है। प्रत्येक समालोचक प्रत्येक कृति की समालोचना नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक की समालोचना के लिये अर्थशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है।

४–धैर्य और निष्पक्षता की वैज्ञानिक मनोवृत्ति—यह समालोचक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए समालोचक को वैज्ञानिक और दार्शनिक की मनोवृत्ति रखनी चाहिये। वैज्ञानिक हमेशा यह देखता है कि वह अपने उत्साह में भूल तो नहीं कर रहा है, वह अपनी रुचि का बिल्कुल निराकरण कर देता है। वह अपने पक्ष के विपरीत उदाहरणों को उसी तत्परता से देखता है, जिससे

अनुकूल उदाहरणों को । समालोचक को पक्षपातहीन भी होना [illegible]
होना चाहिए समालोचक को किसी [illegible] की वकालत नहीं । यदि [illegible]
करे तो अपनी वकालत न करे । लेखक की वकालत करने के [illegible]
समालोचक के लिए [illegible] के भावों को [illegible]
दूर रखना वांछनीय है ।

उसको [illegible] चाहिए जो अपनी रुचि और [illegible]
[illegible] के कारण [illegible] और [illegible] के [illegible] को [illegible]
[illegible] है ।

५—औचित्य का ज्ञान — बहुलता और विशेषता के साथ समालोचक को औचित्य का ज्ञान होना आवश्यक है । उसको गति (Movement) प्र (Proportion) और (Unity) अन्विति की जाँच करने का ज्ञान आवश्यक है, जिससे वह यह कह सके कि अमुक स्थान में अमुक आवश्यक के लिये कम स्थान दिया गया है और अनावश्यक बातों को आवश्यक दि दे दिया गया है । अन्विति, संगति या निर्वाह का गुण तो सभी रचना होना चाहिए । विवेचनात्मक ग्रन्थों के लिये तो समालोचक को तर्क-शास्त्र ज्ञान होना भी आवश्यक है । काव्य के समालोचक को काव्य नियम तथा दोषों और पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है तभी वह लोचक सफल समालोचना कर सकेगा ।

६—प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति—समालोचक स्वयं एक प्रकार का और कलाकार होता है । वह कृति का स्वयं ही अध्ययन नहीं करता, दूसरों को भी कराता है । कवि के हृदयगत रस को दूसरे के आस्वाद का बनाना सहज कार्य नहीं अपने हृदय के रस को दूसरों तक पहुँचाना भी कला है, किन्तु दूसरे के हृदय के रस को तीसरे तक पहुँचाना और भी ऊँ की कला है ।

अन्त में सबसे बड़ी बात जो आलोचक मे होनी चाहिये वह है 'निःस विषय की विवेचना मे उसे अपने व्यक्तिगत विशेषत्व को नहीं लादना चा उसे इस बात की पूरी तत्परता बनाए रखनी चाहिए कि वह अपनी व्य

अनुभूतियो और मान्यताओं को अपनी विवेचना को आधार मिला न स्वीकार करे। जो जीवन और जगत् साहित्यकार द्वारा निर्मित है उसके भीतर वह इस प्रकार प्रवेश करे कि अपनी भावनाओं और अपनी सम्पूर्ण बनावट के कुम्भक-त्व से कवि कृति की कोमलता छिन्न-भिन्न न कर डाले। उसे तो समक समान रूप धारण कर अपनी सीमा खोजनी चाहिए। व्यावहारिक विचार मे इस कोटि की योग्यता बड़ी कठिन है और इसके बिना काम नहीं चल सकता। इसके अभाव मे काव्य निर्माता पीछे छिप जायेगा और आलोचक ऊपर उभर आयेगा। इस प्रकार सारा प्रयास ही विकृत हो उठेगा। पाश्चात्य विवेचकों ने इस योग्यता की बड़ी महिमा बताई है और है भी बड़े मर्म की बात, पर इसके विषय मे सात्विक-मत-भेद के लिए बड़ी गुंजाइश दिखाई पड़ती है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि किसी भी समर्थ और योग्य समीक्षक मे प्रतिभा और सहृदयता के अतिरिक्त व्युत्पत्ति एव दार्शनिकतापूर्ण निःसंगता का होना अति आवश्यक है।

२ | साहित्य

परिभाषा

सामान्यतया 'साहित्य' शब्द की व्याख्या करने मे 'सहित' शब्द का आश्रय लिया जाता है, किन्तु इससे भी सूक्ष्म-उपाय क्या हो सकता है; इस ओर साहित्यचिन्तकों का ध्यान नही गया,। वास्तव मे 'सहित' शब्द ही व्याख्येय है। यह शब्द 'स + हित' इन दो अवयवों से निष्पन्न प्रतीत होता है। 'हित' शब्द संस्कृत की 'धा' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर निर्मित होता है। इस प्रकार 'हित' का व्युत्पत्तिलभ्य-अर्थ 'दधाति इति हितम्' अर्थात् जो धारण करता है, उसे 'हित' कहते हैं, यह सिद्ध होता है। 'सहित' शब्द मे 'हित' की पूर्ववर्ती 'सकार' का 'सह' या साथ अर्थ है। इस प्रकार 'सहित' शब्द का समुदित अर्थ हुआ—"साथ धारण करने वाला।" अब यहाँ पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'किसका साथ धारण करने वाला' उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रसगवशाद् "शब्द और अर्थ" का ही साथ धारण करने वाला, 'सहित' पदवाच्य होना चाहिए, क्योकि 'प्रकरण' या 'प्रसग' भी अर्थ निर्णायक तत्त्वों मे माना जाता है। यथा.—"अर्थ प्रकरण लिङ्ग" (मम्मट-काव्य-प्रकाश) 'सहित' शब्द की इतनी व्युत्पत्ति कर लेने के पश्चात् 'सहितस्य भावः कर्मवा = 'साहित्यम्' अर्थात् 'सहित' के भाव अथवा कर्म का नाम 'साहित्य' है, यह व्युत्पत्ति पूर्ण होती है। इस प्रकार जब 'साहित्य' की प्रथम-व्याख्या की जायगी, तब उसका यह रूप होगा —"शब्द और अर्थ का साथ धारण करने वाला 'भाव' साहित्य है।" इसकी कर्मपरक द्वितीय-व्याख्या का स्वरूप यह होगा — "शब्द और अर्थ का साथ धारण करने वाला कर्म 'साहित्य' है।" प्रथम-व्याख्या एवं द्वितीय-व्याख्या मे 'भाव' एव 'कर्म' को समझने से दोनो मे सूक्ष्म-पार्थक्य ीत होता है। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'साहित्य' और 'काव्य' परस्पर ची होते हैं, क्योकि 'काव्य' मे शब्द और अर्थ का साथ धारण करने

का भाव विद्यमान रहता है। द्वितीय-व्याख्या के अनुसार 'साहित्य' शब्द वाङ्मय' का पर्याय प्रतीत होता है क्योंकि शब्द और अर्थ का साथ धारण करने वाला कर्म अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत इतिहासादि विषय भी सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे अंग्रेजी का 'लिट्रेचर' (Literature) शब्द अपने सकुचित अर्थ मे 'काव्यादि' का वाचक है और विस्तृत अर्थ मे समस्त वाङ्मय का वाचक है, वैसे ही 'साहित्य' शब्द भी उभयार्थों मे प्रयुक्त होता है।

'वाङ्मय' शब्द तो अतिप्राचीन है, किन्तु 'काव्य' के अर्थ मे 'साहित्य' शब्द का प्रयोग ८वी शताब्दी के लगभग प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। आचार्य कुन्तक' ने 'साहित्यार्थसुधासिन्धो सारमुन्मीलयाम्यहम्' (अर्थात् साहित्यार्थ के सुधासिन्धु का सार उन्मीलित कर रहा हूँ।) की प्रतिज्ञा की थी। उक्त उल्लेख उनके प्रसिद्धग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीविनम्' मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'राजशेखर' ने शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव की विद्या को 'साहित्यविद्या' की सज्ञा प्रदान की है —

'शब्दार्थयो यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'

कुछ लोग 'साहित्य' शब्द की व्याख्या मे 'हित' शब्द का लोकप्रचलित अर्थ 'कल्याण' या 'मगल' अथवा 'शिव' लेते हैं। तदनुसार '"हित के भावो से पूर्ण शब्द और अर्थ को साहित्य कहते हैं।" यह व्युत्पत्ति काव्य के 'शिव' तत्त्व को प्रश्रय देती है, किन्तु इसके अतिरिक्त समस्त-वाङ्मय भी तो लोकहितकारी है? इस प्रकार इस व्युत्पत्ति मे भी 'साहित्य' के दोनो अर्थ (काव्य तथा वाङ्मय) निकल आते हैं।

पाश्चात्य विद्वानो ने भी 'साहित्य' ('लिट्रेचर') की अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं, जिनका सक्षिप्त-विवरण इस प्रकार है —

'हेनरी हडसन' नामक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान ने (Study of Literature) नामक पुस्तक मे 'साहित्य' की व्याख्या इस प्रकार की है —

"Literature is only one of the many Channels in which the Energy of age discharges itself in its Poltical movement,

a religious thought, Philosophical speculation and art We have the same energy overflowing into other forms of expression." अर्थात् विभिन्न साधनों में साहित्य ही केवल ऐसा साधन है, जिसे युग-शक्ति की स्वत अभिव्यक्ति होती है। यही शक्ति परिप्लावित होकर राजनीतिक-आन्दोलन, धार्मिक विचार, दार्शनिक विवेचन और कला के रूप में प्रकट होती है। अभिव्यक्ति के अन्य रूपों में हमारे पास यही परिप्लावित शक्ति है।

उक्त परिभाषा के अनुसार'साहित्य' युगविशेष की स्फूर्ति है, जिसमें राजनीति, धर्म दर्शन एव कला भी स्फूर्ति ग्रहण करती हैं। इस प्रकार सामाजिक स्फूर्ति एव प्रेरणाशक्ति को इस परिभाषा में अधिक महत्व प्रदान किया गया है

प्रो० एम० जी० भाटे ने (लिट्रेचर एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म) Literature and Literary criticism नामक पुस्तक में 'साहित्य' की यह परिभाषा दी है' Literature is the music which streams out of the attempts of man attune himself to life on the key-board of Language अर्थात् साहित्य वह संगीत है, जो मानव के अन्तस्तल से नि सृत होता है और भाषा माध्यम से अभिव्यक्त होकर जीवन के साथ सामजस्य स्थापित करता है।

विचार करने पर उक्त परिभाषा में कलात्मकता और जीवन का समन्वय किया गया प्रतीत होता है यदि पूर्व परिभाषा में जीवनतत्त्व की प्रधानता रखी गई है, तो इस परिभाषा में 'कला' तत्त्व की प्रधानता रखी गई है।

इसी प्रकार अन्य परिभाषाये भी है, जिनमें किसी में 'कला कला के लिए' और किसी में 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त को मान्य प्रदान की गई है यथा 'साहित्य समाज का दर्पण है' (Literature is the mirror of society) 'साहित्य जीवन की आलोचना है' (Literature is a criticism of life)

हिन्दी के आचार्यों ने भी अपने-अपने विचारों के आधार पर 'साहित्य' की परिभाषायें दी हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी – "ज्ञानराशि के सचित-कोष का नाम साहित्य है।"

डा० श्यामसुन्दरदास – "किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य

उत्पन्न नहीं दे सकते हैं, जब जो कुछ उसमें लिखा गया है, वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है।"

मुंशी प्रेमचन्द – "साहित्य की बहुत सी परिभाषायें की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है।"

वस्तुतः सत्य, शिव और सुन्दरम् का समन्वित रूप ही साहित्य है। यदि हम अपने विचारों के आधार पर 'साहित्य' शब्द की परिभाषा करें तो इस प्रकार होगी – 'आकर्षक भाषाशैली में सरसभावों की अभिव्यक्ति ही 'साहित्य' है।

साहित्य-निर्माण में हेतु

सभी व्यक्ति चाहें कि वे साहित्य की रचना कर लें, तो ऐसा कर पाना सम्भव नहीं है। साहित्य-निर्माण एक अद्भुत कौशल है, जिसके लिए "नैसर्गिक-साहित्य-प्रतिभा" आवश्यक होती है। यद्यपि अधिकांश साहित्यकार केवल अध्ययन एवं परिश्रम का आश्रय लेकर ही साहित्यिक बनने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उन्हें प्रातिभ-साहित्यकार का गौरव कभी नहीं प्राप्त हो सकता। यथा –

> सारस्वतवैभव गुरुकृपापीयूषपाकोद्भव,
> तल्लभ्य कविनैव नैव हठत पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
> कासारे दिवस वसन्नपि पय पूर पर पङ्किल,
> कुर्वाणे कमलाकरस्य लभते किं सौरभ सैरिभ ॥

अर्थात् जिसे 'सारस्वतवैभव' (कवित्व शक्ति) कहते हैं, वह गुरुकृपारूपी अमृत के पाक से उत्पन्न होता है। उसे कवि ही प्राप्त कर सकता है, पढ़कर प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले व्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। जिस प्रकार भैंसा सरोवर में दिन भर बसता हुआ जलराशि को अधिक मलिन बनाता रहता है, किन्तु क्या कमलाकर की सुगन्धि को प्राप्त कर पाता है? अर्थात् नहीं। इसी प्रकार नैसर्गिक प्रतिभा के अभाव में कोई व्यक्ति केवल अध्ययन एवं परिश्रम के बल पर सफल-कवि नहीं बन सकता।

आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास, इन तीन कारणों को समुदित रूप में काव्य (साहित्य) के प्रति हेतु स्वीकार किया है :–

शक्ति निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

उक्त तीन कारणो मे सर्वप्रथम एव मुख्य कारण 'कवित्वशक्ति' का होता है। यह शक्ति जन्मजात होती है, अध्ययन प्रसूत नही । इसकी इसी दुर्लभता की ओर सकेत करते हुए कहा गया है –

'कवित्व दुर्लभ लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।'

अर्थात् लोक मे 'कवित्व' दुर्लभ है और कवित्व-शक्ति तो और भी दुर्लभ है। उक्त प्रथम कारण के पश्चात् द्वितीय कारण 'निपुणता' है। यह निपुणता या चातुरी लौकिक-ज्ञान, अनेक काव्यो तथा शास्त्रादि के अध्ययन से उत्पन्न होती है । इसके अभाव मे प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी अपनी रचना में सफल नहीं हो सकता । कवि या साहित्यकार को अनेक विषयो का ज्ञान अपेक्षित होता है । देश, काल तथा परिस्थिति से अपरिचित या स्वल्प परिचित कवि हास्यास्पद बन जाता है ।

तृतीय कारण 'अभ्यास' है । इस अभ्यास की प्राप्ति के लिए साहित्यकार को किसी ऐसे अधिकृत साहित्यमहारथी से शिक्षा लेनी पडती है, जो स्वय इस विषय का मर्मज्ञ हो । तत्पश्चात् उसके मार्ग-दर्शन मे उसे साहित्य-रचना का अनवरत-अभ्यास करना पडता है अभ्यास के अभाव में प्रतिभा सम्पन्न, लोक-काव्यशास्त्रादि ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति भी साहित्य-रचना में पूर्ण सफल नहीं हो सकता, उसे रचनाकाल मे पर्याप्त विलम्ब लगेगा और विचारो की अविच्छिन्न शृंखला की स्पष्ट अभिव्यक्ति मे भी बाधा प्रतीत होगी ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'शक्ति' 'निपुणता' और 'अभ्यास' ये तीनों कारण सामूहिक रूप से साहित्य रचना के हेतु हैं । इनमे से एक के भी अभाव में प्रभविष्णु एव सफल-साहित्य का निर्माण नही हो सकता ।

साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणाएँ

साहित्य की गौरव-गरिमा का गायन करते हुए प्राय लोग कहा करते हैं वह पृथ्वी और स्वर्ग के बीच की वस्तु है, किन्तु वास्तव में साहित्यिक की त्रिशकु की-सी नही है । विश्वामित्र की भांति साहित्यकार अपने यजमान

तो स्नेह से सदेह स्वर्ग पहुँचाने का दावा नही करता, वरन् वह अपने योगबल से इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की प्रतिष्ठा कर देता है। पृथ्वी के ऊपर स्वर्ग तो बिना मरे नही प्राप्त होता है। किसी वस्तु को स्वर्गिक वस्तु तुल्य कह कर प्रतिष्ठा देना इस लोक का अपमान करना है। साहित्य इसी लोक की किन्तु असाधारण वस्तु है और उसके मूल-तत्व जीवन से ही रस ग्रहण करते हैं।

'साहित्य' जीवन से भिन्न नही है, वरन् वह उसका ही मुखरित-रूप है। वह जीवन के महासागर मे उठी हुई उच्चतम तरंग है, मानव-जाति के विचारो और सकल्पो की आत्मकथा साहित्य के रूप मे प्रसारित होती है। 'साहित्य' जीवन-विटप का मधुमय सुमन है, वह जीवन का चरम-विकास है, किन्तु जीवन से बाहर उसका अस्तित्व नही। उसमे पाचन (Assimilation) वृद्धि (Growth) गति और पुनुरुत्पादन (Reproduction) आदि जीवन की सभी क्रियायें मिलती हैं। 'अग-अगी से भिन्न गुणवाला नहीं होता, इसलिए जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। जो वृत्तियाँ जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं, वे ही साहित्य को भी जन्म देती है।

जीवन की प्रेरणाएँ या साहित्य की मूलभूत प्रेरणाएँ –

साहित्य का जीवन से तथा जीवन का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो ही एक दूसरे के पूरक हैं। 'हडसन' ने साहित्य को जन्म देने वाली चार मूलभूत-प्रेरणाओ को माना है, जो इस प्रकार हैं —

१- Our desire for self-expression अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की कामना।

२- Our interest in people and their doings मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।

३- Ourinterest in the world of reality in which we live and in the world of imagination which we conjure in to exist ance. यथार्त्-जगत के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत् के निर्माण की प्रवृति।

४- Our love of form as form. रूप-विधान की कामना।

उपर्युक्त चार मूल-प्रेरणाओं के अतिरिक्त साहित्य को जन्म देने
कुछ और बातें भी हो सकती हैं। हमारी समझ में साहित्य की मूलभूत-प्रवृ
अनेकता मे एकता उपस्थित करने की और एकता मे अनेकता देखने की
है। सस्कृत मे 'साहित्य' शब्द का जो व्युत्पत्तिमूलक विग्रह किया जाता है
उससे भी इस बात की व्यजना होती है।
प्रवृति और है। मानव ज्यो-ज्यो सभ्य होता ज
भी परिष्कृत होती जाती है। उसकी रुचि जितनी परिष्कृत होना जाता
उसका साहित्य भी उतना ही उदात्त होता जाता है।
भावना भी सत्साहित्य के निर्माण में वर्तमान रहती है।
कुछ मानव की सत्यनिष्ठा से भी प्रणोदित होती है। जीवन सत्यो को सुन्दर
सुन्दर ढग, सुन्दर से सुन्दर रूप मे साहित्य ही प्रस्तुत करता है। इससे यह
प्रकट है कि मानव की सत्य-निष्ठा ने भी साहित्य-सर्जना मे योग दिया है।

साहित्योत्पत्ति का एक कारण तन्मयता भी होती है। जिस प्रकार वि
के मूल मे जिगीषा की भावना रहती है, उसी प्रकार साहित्य के मूल मे तन्मय
की भावना काम करती है। आदि-मानव ने जब सृष्टि के अभिनव पदार्थ पह
पहल देखे होंगे, तो वह उन्हे देखकर विस्मयाभिभूत हुआ ही होगा।
विस्मयाभिभूति के पश्चात् रमणीय पदार्थों ने उसकी बुद्धि और चेतना
तन्मय कर लिया होगा। तन्मयता की इसी स्थिति से उठकर (जगकर)
अपनी अनुभूतियो को काव्य, नाटक, कहानी आदि विविध साहित्य-विधानो
व्यक्त करने के लिए आकुल हो उठा होगा। आज का साहित्य उसकी आ
रुता का लिपिबद्ध-इतिहास कहा जा सकता है और चाहे हम ज्ञान-राशि
संचित कोष कहे, चाहे काव्य कहे और चाहे कोई भी अभिधान दें, वि
तन्मयता की स्थिति मे उद्भूत भावनाओ की साकार अभिव्यक्ति साहित्य
कहलाएगी।

साहित्य-सर्जना मे जीवन और जगत् का द्विमुखी प्रभाव दिखाई पडता
समाज का, दूसरे जीवन की प्रेरणाओं का। समाज पर साहित्य का

ाव पड़ता है इस विषय को लेकर पाश्चात्य् विद्वानों ने बहुत विचार-विमर्श ग है । दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालने का श्रेय ग्रीक विद्वान रीयोडोटस" को दिया जाता है । इसके बाद उन्नीसवी शताब्दी में 'टेन' मक आचार्य ने भी इस दिशा में अच्छा अध्ययन किया है । इसके अतिरिक्त इवेल नामक विद्वान ने अपने Illusion and Reality. A study of ources of Poetery नामक रचना में तथा अन्य विद्वानों ने साहित्य और गज के पारस्परिक सम्बन्धों की बड़ी सूक्ष्म और अनुसन्धानपूर्ण व्याख्या की और यह प्रमाणित कर दिया है कि साहित्य को जीवन और जगत् से निरपेक्ष रके निरूपित नहीं कर सकते । सच तो यह है कि साहित्य जीवन और जगत् प्रेरणा (चेतना) ग्रहण कर सकता है । अतएव यह कहना अनुचित न होगा क साहित्य की प्रेरणाएँ वे होंगी जो जीवन की प्रेरणाएँ मानी जाती हैं ।

जीवन की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में हमारे यहाँ उपनिषद् ग्रन्थों में सार-पूर्ण ातें कही गई हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् में तो जीवन की उन प्रेरणाओं का वेस्तार से उल्लेख किया गया है । उसके अनुसार वे प्रेरणाएँ प्रधान रूप से तीन हैं :—

१– पुत्रैषणा २– वित्तैषणा । ३– लोकैषणा ।

साहित्य की उद्भावना में वह त्रिविध ईषणाएँ भी सहायक होती हैं, किन्तु इन प्रेरणाओं को हम मुख्य न मानकर गौण ही कहेंगे । योरोपीय विद्वानों ने जीवन की प्रेरणाओं पर और भी विस्तार से विचार किया है । इनमें फ्रायड एडलर, युग आदि आते हैं । फ्रायड ने जीवन की समस्त-क्रियाओं की मूलप्रेरणा 'वासना' ही मानी है । उसका मत है कि साहित्य की आधार-भूमि भी 'वासना' ही है । फ्रायड के समान भारतीयों ने भी साहित्य की अभिव्यक्ति का मूल प्रेरक आदि 'रस' ही माना है । यह आदि-रस और कुछ नहीं 'वासना' ही है ।

कालिदास—"क्रियाणाम् खलु धर्माणाम् सत्पत्न्यो मूल कारणम्"

यह लिखकर कालिदास ने पुष्टि कर दी ।

अन्य विद्वान 'एडलर' ने अभाव क्षति की पूर्ति को ही जीवन की मूल-प्रेरणा माना है । यह अभाव या क्षति-पूर्ति की भावना साहित्योत्पत्ति में भी गौण

रूप से सहायक होती है । इस बात के प्रमाण स्वरूप 'सूरदास' तथा मिल
उद्धृत किये जा सकते हैं । उन्हें दृष्टि का अभाव था । उस अभाव की
उन्होंने कल्पनामूलक दृष्टि की सहायता से की । यही बात 'जायसी' जैसे
कवि के सम्बन्ध में लागू हो सकती है ।

'एडलर' के इस सिद्धान्त के मूल में हमें प्रभुत्व-कामना की प्रवृत्ति
रूप दिखाई पड़ती है । जिन लोगों में यह प्रवृत्ति जितनी तीव्र होती है,
उनकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रबल होती है । वे ही साहित्य-क्षेत्र में भी
कार्य कर पाते हैं । सम्भवतः यही कारण है कि विश्व के महान् प्रतिभा
कवियों और विद्वानों ने अपनी प्रशंसा स्वयं की है । कालिदास, शेक्सपि
कबीर आदि के उदाहरण हैं । इस प्रकार स्पष्ट है, किसी हीनता-भाव से
होने वाली किसी भी प्रकार के प्रभुत्व की भावना भी साहित्य की एक
प्रेरिका हो सकती है ।

एक दूसरे अंग्रेज 'युग' ने इन दोनों मतों में सामञ्जस्य स्थापित करने
चेष्टा की है । उनका मत है कि साहित्य का जन्म काम-वासना और प्र
वासना इन दोनों प्रवृत्तियों की प्रेरणा से ही होता है ।

बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त मत को ही भारतीय दृष्टिकोण से सम
की चेष्टा की है । उनके मतानुसार त्रिविध एषणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरि
होती हैं । उन्होंने कहा—जो भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा
यदि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, तो यह त्रिविध एषणाएँ भी उसे कि
किसी रूप में बल अवश्य प्रदान करेंगी ।

साहित्य के निर्माण में एक और मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्ति कार्य करती
दिखाई पड़ती है । सभ्य मानव प्रायः अपने स्वार्थों को परार्थ के आवरण
छिपाकर व्यक्त करना चाहता है । साहित्य की उद्‌भावना में मानव की
प्रवृत्ति भी प्रच्छन्न-रूप से क्रियाशील रहती है । इसीलिए उससे स्वार्थ
परार्थ दोनों की सिद्धि होती है ।

आचार्य मम्मट ने साहित्य-साधना के उद्देश्य या प्रयोजन बतलाये हैं :

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य. परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ।।

(१) यशोलिप्सा (२) अर्थलाभ (३) व्यवहार ज्ञानार्थ (४) कल्याण प्रदा (५) शीघ्र ही आनन्द की अनुभूति कराना (६) मधुर-उपदेश ।

उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यों में से अधिकांश इन्हीं मे अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

अतः संक्षेप मे हम कह सकते है कि साहित्य-सृजन मे मूल प्रेरणाएँ आत्मा-व्यक्ति, मनुष्य तथा उनके कार्यों के प्रति लगाव, यथार्थ जगत् के प्रति आक-ण और कल्पना जगत् के प्रति निर्माण, रूप-विधान, अनेकता मे एकता स्था-त करने की प्रवृत्ति, तन्मयता त्रिविध एषणाएँ (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) म-भावना, प्रभुत्व-भावना तथा स्वार्थ और परार्थ की सिद्धि है । साहित्य-र इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर साहित्य-सृजन करता है ।

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का पारस्परिक घनिष्ठ-सम्बन्ध है । साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, अपितु उसका मार्ग निर्देशक भी है । यदि समाज अपनी उचित विशेषताओं को चुन-चुनकर 'साहित्य' का श्रृंगार करता है, तो साहित्य भी अपनी सरसता द्वारा समाज के अन्तःकरण को सरस एवं कोमल बनाता हुआ, उसमे मानवीय विशेषताओं की अभिवृद्धि करता है । इस प्रकार कवि और समाज दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । यथा—

'Poet avol age react upon each other' कोई भी 'साहित्य' समाज की उपेक्षा करके चिरञ्जीवी नहीं हो सकता । यह बात दूसरी है कि कुछ उच्च-कोटि के साहित्यकार देश-काल की सीमा से ऊँचे उठकर चिरन्तन अथवा 'शाश्वत-सत्य' का चित्रण करते हैं और उनका वह दिव्य-संदेश प्रत्येक समय और परिस्थिति मे नवीन प्रतीत होता है, किन्तु सभी साहित्यकार ऐसे नहीं हो सकते।

साहित्य का समाज के साथ दो रूपों मे सम्बन्ध होता है—प्रथम प्रकार का साहित्य सामयिकलोक-प्रियता प्राप्त कर जनता का मनोरंजन करता है और द्वितीय प्रकार यह है कि वह समाज की वर्तमान मान्यताओं एवं गति विधियों की उपेक्षा करता हुआ स्वच्छन्दरीति से गतिशील रहता है । इस प्रकार

साहित्य की उभयधारायें समाजकल्याण मे ही तत्पर रहती हैं। यदि एक समाज की वर्तमान स्थिति का पोषण होता है, तो द्वितीय से भावी-समाज की रूपरेखा तैयार होती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के साथ समाज का सम्बन्ध होना चाहिए या नही, इस प्रश्न पर बहुत विस्तृत विचार प्रस्तुत किये हैं। 'मैथ्यू आर्नोल्ड' के मत से 'साहित्य जीवन की आलोचना है।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार आलोचना मे किसी कृति के गुण-दोषों का सन्तुलित-विवेचन होता है उसी प्रकार साहित्य में भी समाज या मानवजीवन के गुण-दोषों का विवेचन होना चाहिए। ऐसा करने से साहित्य में 'आदर्श' और 'यथार्थ' दोनों का चित्रण सम्भव हो सकेगा। 'वर्ड्सवर्थ' ने भी इस विषय का प्रतिपादन निम्नलिखित शब्दो में किया है—

"केवल जीवन की यथार्थ भावनाओ का निरूपण ही साहित्य नहीं है इसके साथ ही भावनाओ का परिष्कार तथा अक्षय-प्रकृति का जीवन के साथ सामजस्य भी है।"

उपर्युक्त मत के विपरीत 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त मानने वाले विद्वानो ने साहित्य को 'आत्मभिव्यक्ति' का साधन माना है। वे साहित्य का समाज या जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नही मानते। 'आस्कर वाइल्ड' ने स्पष्ट कहा है—Emotion for the sake of emotion is the aim of art अर्थात् 'कला का लक्ष्य अनुभूति अनुभूति के लिए' है।

सतुलित दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि कवि अपनी अनुभूतियो को समाज से ही ग्रहण करता है, क्योंकि सभी मनुष्यों की भाँति वह भी एक सामाजिक प्राणी है। अत. सामाजिक अनुभूतियों से बहिर्भूत जो भी रचना होगी, कोरी काल्पनिक होगी। साहित्यकार का यह दायित्व है कि वह 'साहित्य' मे समाज का इतना ही चित्रण करे, जिससे उसकी रसात्मकता मे व्याघात न उपस्थित हो और इसी प्रकार कलात्मकता का पोषण इस मात्रा तक करे कि समाज उपेक्षित न रह जाय। तात्पर्य यह कि साहित्यकार का यह कार्य है कि वह कला और जीवन मे सामञ्जस्य स्थापित करे।

विस्मरण, आज तक कोई भी राजनीतिक वैसा स्मरणीय कार्य नहीं कर सका।

इस प्रकार साहित्यकार राष्ट्र का पथप्रदर्शक होता है। वह अपने साहित्य के माध्यम से मानवीय गुणों की रक्षा करता है, नवचेतना की ज्योति जगाता है और अपनी सरसता द्वारा भौतिकता के ताप से संतप्त मानव-हृदय में शीतलता का संचार करता है। साहित्य में ही उसकी क्षमता है कि वह सहस्रों वर्षों तक अतीत के रसमय दृश्यों को सुरक्षित रखता है। इतिहास तो केवल मानवता के अस्थि-कंकाल की ही सुरक्षा करता है किन्तु साहित्य उसकी जीवनी शक्ति को भी बनाये रहता है जिसके अन्तर्गत तत्कालीन संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, आचार-व्यवहार आदि सभी का लेखा जोखा रहता है। यदि आज 'ऋग्वेद' उपलब्ध न होता, तो हम अपने प्राचीन ऋषियों की गहरीय-साधना, सूक्ष्म-चिन्तन और उनके जीवन का इतना प्रामाणिक-ज्ञान कहाँ से अर्जित करते? इस प्रकार साहित्य अतीत का दर्पण, वर्तमान का चित्रण और भविष्य का पथ-प्रदर्शक होता है।

साहित्य में आदर्श और यथार्थ

काव्य में आदर्शवाद

मानव के आदर्शवादी विचारों के परिणाम स्वरूप ही साहित्य में आदर्श

वाद का प्रवर्तन हुआ है आदर्शवादी विचारों का सम्बन्ध धर्म और नीति से अधिक रहता है। जो लोग साहित्य का सम्बन्ध धर्म और सदाचार से स्थापित करते हैं, आदर्शवाद उन्ही की देन है। भारत सदा से ही आचार-प्रवण एवं धर्म-प्रधान देश है इसीलिए उसकी सामान्य-प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। साहित्य के आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने भी आदर्शवाद के प्रवर्तन और प्रचार में योगदान दिया है। वृहदारण्य कोपनिषद मे।

'अय पुरुषः वाङ्मय.' कह कर द्रष्टा ने साहित्य की आध्यात्मिकता की ओर सकेत किया है। पुरुष आदर्श रूप है। अतएव यहाँ के साहित्य में आदर्श-वाद का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। साहित्य मे उपदेशात्मकता आते ही उसकी प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर हो जाती है। इसीलिये हमारे यहाँ आदर्श-वाद का प्रचार बहुत अधिक हुआ।

पाश्चात्य-साहित्य में वादों का स्थान

पाश्चात्य-साहित्य मे प्रमुख रूप से दो बातो पर ध्यान दिया गया।

१—कला कला के लिए

२—कला जीवन के लिए

एक सम्प्रदाय तो भारतीय हितवाद का समर्थक कहा जा सकता है और दूसरा सम्प्रदाय कलावाद का अनुयायी है। कलावाद के अनुयायियो मे क्रोचे बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होने काव्य को मन की 'कल्पना' नामक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति माना है। वे उसे धर्म से भिन्न मानते हैं। पाश्चात्य हितवादी-सम्प्रदाय काव्य-कला को नीति सदाचार से सम्बधित सिद्ध करने का प्रयास करता है। इसीलिए उसमें आदर्शवाद की प्रतिष्ठा स्वत· हो गई है। क्रोचे की विचारधारा मे भी आदर्शवाद का एक रूप मिलता है।

जो कुछ अद्वैत है वही आदर्श है। इस दृष्टि से हम क्रोचे के सिद्धान्त को कलावादी आदर्शवाद का अभिधान दे सकते हैं। पाश्चात्य देशो मे एक प्रकार का आदर्श वाद और मिलता है ग्रीक साहित्य मे दु खान्त नाटको की बहुलता है, इन दु खान्त नाटको की रचना अधिकतर आदर्शात्मक सिद्धान्तों पर हुई है। आदर्शात्मक सिद्धान्तो पर जीवन की यथार्थता प्रतिष्ठित की जाने के कारण

से हम यथार्थवादी आदर्शवाद कह सकते हैं। इस प्रकार हमें भारतीय और पाश्चात्य काव्य क्षेत्र में तीन प्रकार के आदर्शवाद दीख पड़ते हैं।

१. सदाचार और धर्ममूलक आदर्शवाद।
२. कलावादी आदर्शवाद।
३. यथार्थवादी आदर्शवाद।

आदर्शवाद क्या है ? काव्य या किसी अन्य साहित्यिक-रचना करते समय कवि अथवा लेखक अपनी भावाभिव्यक्ति में दो पद्धतियाँ स्वीकार करता है। प्रथम तो यह है कि वह तत्कालीन-समाज को जिस रूप में देखता है, उसका उसी रूप में चित्रण कर देता है, स्वतः उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करता। इस विधि में वह यथार्थवादी कहलाता है। द्वितीय-पद्धति यह है कि वह (कवि या लेखक) कल्पना का आश्रय लेकर समाज के सुन्दररूप का चित्रण करता है, जो प्रत्यक्ष जगत् में दृष्टिगोचर नहीं होता। इस विधि में वह आदर्शवादी कहलाता है। आदर्शवाद समाज के कटु-यथार्थ से ऊबे हुए व्यक्तियों के लिए सान्त्वना प्रद होता है। हम ऐहिक-जगत् में अन्याय, प्रपीडन, शोषण, अत्याचार एवं विद्रोह आदि को देखकर ऊब जाते हैं। यदि यही बातें हमें साहित्य में भी मिलेंगी, तो साहित्य के अध्ययन से विरक्ति हो जायगी। इस दृष्टि से साहित्य में 'आदर्शवाद' की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके चित्रण में कवि या लेखक को कल्पना की सहायता लेनी पड़ती है, क्योंकि दृश्य जगत् इतना सुन्दर नहीं है। इस प्रकार कवि या लेखक का अन्तःकरण अपनी कल्पना द्वारा ही उत्तमोत्तम भावों की सृष्टि करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जैसा हो रहा है, वैसा ही चित्रण करना यथार्थ है और वस्तुतः 'जैसा होना चाहिए' यह आदर्श है।

आदर्श का आंशिक प्रत्यक्ष तो हो जाता है, किन्तु सभी आदर्श प्रत्यक्ष होते नहीं दिखलाई पड़ते। उदाहरणार्थ—यदि कोई कवि या लेखक ऐसे समाज का चित्रण करता है, जिसमें सुख ही सुख है, शान्ति ही शान्ति है, तो यह कोरा आदर्शवाद कहलायेगा, क्योंकि दृश्य-जगत् में कहीं पर ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता। इस प्रकार अधिकांश आदर्श स्वप्नलोक या कल्पनालोक में ही अस्तित्व

रखते हैं। इतना होने पर भी 'आदर्शवाद' आवश्यक है, क्योंकि यदि ह
के माध्यम से हम उसका अध्ययन करते हैं, तो निश्चितरूप से हमारे म
उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है और हम कुत्सित कार्यों से दूर रह क
आदर्शों की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करते हैं। साहित्य में आदर्श
आवश्यकता के चित्रण पर बल देते हुए हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण
ने लिखा है—

> हो रहा है जो वहाँ सो हो रहा,
> यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
> किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
> व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ॥ 'साकेत' (प्रथम स

यह आदर्शवाद हमारे चित्त मे निराशावाद की तमिस्रा को हटाकर आ
वाद' का नव-प्रकाश फैलाता है। वैदिक मन्त्रों मे देखिये—"तमसो मा ज्यो
र्गमय", "असतो मा सद् गमय" आदि मे इसी आदर्श की ओर जाने का स
मिलता है। हमारा प्राचीन-साहित्य आदर्शवाद की आधार शिलाओं प
टिका हुआ है। आदर्श हमें जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर करता है,
की कमनीय प्रेरणा देता है। हमारे साहित्य मे राम, कृष्ण और बुद्ध क
आदर्शरूप चित्रित है, वह आज भी समाज का पथ-प्रदर्शक बना हुआ
आदर्शवाद के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का यह
विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है—

"आदर्शवादी आदर्शपात्रों का शील और स्वरूप अभिव्यक्त करने में
आदर्शोन्मुख-रचनाओं में स्पष्ट ही दो पक्ष रखते हैं। एक होता है 'सत
और दूसरा 'असत्यपक्ष'। उसी असत्यपक्ष का विस्तार के साथ ऐसा वर्णन
जाता है कि जिससे उसके प्रति घृणा या विरक्ति उत्पन्न हो जाय।
जगाने का प्रयोजन होता है कि सत्पक्ष के प्रतिउद्बुद्धश्रद्धा को अधि
परिपुष्ट करना। अन्त में इन काव्यों का लक्ष्य यही निकलता है कि सद
आचरण करना चाहिए, दुर्जनवत् नहीं।"

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि आदर्शवाद हमें जीवन के उज्ज्वल

— के उन्नत है अत इसमें सार्वभौमिक हित की सम्भावनायें प्रबल हैं। तुलसी
'मानस' राम के आदर्शत्व के चित्रण के कारण ही आज विश्व मे अमर है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आदर्शवाद की कुछ सीमा भी है, [illegible] से उसका चित्रण किस मात्रा मे हो। क्या कवि या लेखक को अपनी साहित्य-रचना मे आदर्शवाद की प्रतिष्ठार्थ उपदेश देने का भी अधिकार है? [illegible] मे यह कहना होगा कि नहीं साहित्य मे तो आदर्शों के माध्यम से उपदेश [illegible] होना चाहिए। इसी को मम्मट ने 'कान्तासम्मित उपदेश' की संज्ञा दान की है।

आदर्श की अपनी सीमायें हैं—उसे 'अतिवाद' मे बचना चाहिए। जहाँ वह ढे हुए जीवन को गुण-वैशिष्ट्य प्रदान करता है, वहाँ उसे 'पलायनवाद' से भी र रहना चाहिए। आदर्श का चित्रण उसी मात्रा मे उचित होता है, जहाँ तक ह जीवन से सम्बन्ध बनाये रहे। कोरा आदर्श तो स्वप्न बन जाता है, उसकी भ्रान्ति देखकर मानव की आस्था जीवन की परिधि से हटने लगती है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने लिखा है—

"यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद मे यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धान्तो की मूर्तिमात्र हों, जिनमे जीवन न हो।"

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि हमारे आदर्शों को सम्भावना की सीमा से बहिर्भूत नहीं होना चाहिए, तभी 'आदर्शवाद' की यह परिभाषा सार्थक सिद्ध हो सकती है—

"कल्पना के आधार पर जीवन का सुधरा हुआ रूप उपस्थित करना 'आदर्शवाद' है।"

भारतीय-साहित्य एवं पाश्चात्य-साहित्य में आदर्शवाद

भारतीय-साहित्य मे आदर्शवाद का उदय वैदिक-काल मे ही हो गया था। यद्यपि ऋग्वेद संहिता मे हमें आदर्श के स्थान पर यथार्थ की ही प्रतिष्ठा मिलती है। किन्तु उसका मूलस्वर आदर्शवादी है। उपनिषद-साहित्य मे हमें उस मूल

स्वर का आदर्शवाद के रूप में पूर्ण प्रस्थापन मिलता है। उपनिषद के पश्चात् रामायण और महाभारत-काल आता है। रामायण में आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा मिलती है। महाभारत में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से यथार्थ-वाद की ही झलक दिखलाई पड़ती है, किन्तु उसकी भी आधार-भूमि आदर्शवाद है। भारतीय नाटक-साहित्य में हमें सर्वत्र आदर्शवाद का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रकार आदर्शवाद के प्रभाव के कारण ही हमें एकाध को छोड़कर कोई भी दुःखान्त नाटक नहीं मिलता। संस्कृत-साहित्य का रीति-युग भी आदर्शवाद के प्रभाव से न बच सका। इस युग की रचनाओं में सर्वत्र कलावादी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं।

हिन्दी-साहित्य पर भी आदर्शवाद का बहुत बड़ा प्रभुत्व दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन वैष्णव-साहित्य पर आदर्शवाद की छाया झलकती है। मध्य-युग की सूफी और और निर्गुण-काव्य-धाराओं में तो आदर्शवाद मानो मूर्तिमान हो उठा है। छायावादी-युग कलात्मक आदर्शवाद के लिए प्रसिद्ध है ही।

पाश्चात्य साहित्य में भी आदर्शवाद के दर्शन होते हैं। प्रारम्भ में उसमें कहीं-कहीं धार्मिक-आदर्शवाद की प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ती है, किन्तु परवर्ती साहित्य पर सर्वत्र कलावादी आदर्शवाद की ही झलक मिलेगी। रोमांटिक युग अपने कलावादी-आदर्शवाद के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय-साहित्य ही नहीं पाश्चात्य-साहित्य भी आदर्शवाद से अनुप्राणित है।

काव्य में यथार्थवाद

यथार्थवाद की मूल प्रेरिका ऐहिकता है। जब मानव "एकोऽहम् बहुस्याम्" की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विकासोन्मुख होने लगता है, तभी से वह यथार्थवादी बन जाता है। यथार्थवाद के मूल में यही भौतिकता और वैज्ञानिकता है। जीवन और जगत् की जैसी अनुभूति हमारी स्थूल इन्द्रियों को हुआ करती है, उनको उसी रूप में चित्रित कर देना 'यथार्थवाद' है। दूसरे शब्दों में यथार्थवाद को प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षीकरण कह सकते हैं। उसे अपरोक्ष की प्रत्यक्ष मान सकते हैं, इसीलिए उसका दूसरा नाम प्रकृतिवाद भी प्रसिद्ध है।

पाश्चात्य-देशों में 'यथार्थवाद' की बड़ी धूम है। इसका कारण यह है कि

नका दृष्टिकोण भौतिक रहा है । ऐपिक्यूरियन-दर्शन, हेगेल का जड़ाद्वैतवाद, ाण्ट का भौतिक-इण्ट्यूशन आदि दार्शनिक तथ्यो ने पाश्चात्य-साहित्य मे यार्थवाद को प्रेरणा प्रदान की है । बर्गसा ने भी 'इण्ट्यूशन' का जो निरूपण िया है, वह बहुत ही भौतिक और स्थूल है । इन भौतिक दर्शनों के प्रभाव से ाश्चात्य-साहित्य मे 'यथार्थवाद' का विकास हुआ ।

यथार्थवाद का स्वरूप निरूपण और विशेषताएँ—

१ यथार्थवाद की सबसे पहली प्रवृत्ति एकत्व से अनेकत्व की ओर जाना ै । श्री नन्ददुलारे ने कहा—यथार्थवाद वस्तुओ की पृथक-पृथक सत्ता का ामर्थक है । वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है ।

२. यथार्थवादी साहित्य का सम्बध प्रत्यक्ष वस्तुजगत् मे रहता है ।

३. नैतिकता और धर्म से यथार्थवाद विशेष सम्बन्धित नही है ।

४. यथार्थवाद मे जीवन की ज्यो की त्यो अभिव्यक्ति मिलती है । जीवन मे सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण तीनो की अभिव्यक्ति मिलती है, इसीलिए इसमे तीनो का चित्रण किया जाता है ।

५. इसमे मानव की सबलताओ और दुर्बलताओं का सन्तुलित चित्रमिलता है ।

६ यथार्थवाद मे जीवन के सापेक्ष सत्य की प्रतिष्ठा मिलती है ।

७. यथार्थवाद मे सत् और असत् का द्वन्द्व दिखाते हुए या तो बीच मे ही छोड देते हैं या असत् की विजय दिखाते हैं ।

८. यथार्थ हमारी वृत्तियो के विस्तार मे समर्थ होना है ।

९. यथार्थवाद का सम्बन्ध स्थूल-जगत् और स्थूल-अभिव्यक्ति से अधिक रहता है ।

१०. यथार्थवाद मे सत्य की प्रतिष्ठा मिलेगी, किन्तु वह सत्य लौकिक-सत्य से अधिक निकट होगा ।

काव्य-जगत् के सत्य से थोडा दूर उसमे सत्य के साथ-साथ 'शिव' तत्व भी पाया जाता है । किन्तु सौन्दर्य-तत्त्व का जो स्वरूप उसमे प्रतिष्ठित रहता है; वह द्वन्द्वात्मक कहा जा सकता है । यथार्थवाद के सौन्दर्य मे जीवन के सुन्दर और असुन्दर का सुन्दर-समन्वय देखा जा सकता है । यथार्थवाद की शैलियाँ

बोधगम्य और वैज्ञानिक अधिक रहती हैं।

१२ यथार्थवाद में आशा-निराशा का द्वन्द्व दिखायी पड़ता है।

१३ यथार्थवाद में जीवन का सन्तुलित-चित्र चित्रित किया जाता है।

१४ यथार्थवाद का लक्ष्य मानव को मानव बनाना होता है।

१५ यथार्थवाद को महादेवी के शब्दों में "जड़ की सचेतन अभिव्यं कह सकते हैं।"

१६ यथार्थवाद अपूर्णता का प्रतिबिम्ब होता है।

यथार्थवाद का विकास

भारत में यथार्थवाद की प्रतिष्ठा न्यून रही है और जब कभी यथार्थ का चित्रण भी किया गया, तो उसके मूल में 'आदर्शवाद' की भावना अवश्य प्रतिष्ठित की गई। सच तो यह है कि भारत में सदैव आदर्श की भूमि पर ही यथार्थ का चित्रण किया गया है। केवल कुछ धर्मवादी और भक्तिवादी ही ऐसे थे; जिन्होंने कोरे आदर्शवाद का डंका पीटा। इतना होते हुए भी भारत में यथार्थवादी-साहित्य का अभाव नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में ही 'यथार्थवाद' का स्वयं-चित्रण मिलता है। महाभारत यथार्थवाद का प्रामाणिक ग्रंथ है। संस्कृत के गीत-साहित्य का सम्बन्ध भी यथार्थवाद से स्थापित किया जा सकता है। यथार्थवाद का प्रथम संकेत वीरगाथाकाल में मिलता है। आधुनिक प्रगतिवाद भी यथार्थवाद का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। किन्तु उसे हम यथार्थवाद का स्वस्थ स्वरूप नहीं मान सकते। वर्तमान युगीन 'मार्क्स' और 'लेनिन' के समाज-सम्बन्धी विचार यथार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक एवं भौतिक-यथार्थवाद कहा जाता है मार्क्सवादी-साहित्यिक इस बात का आग्रह करते हैं कि उनके साहित्य का सम्बन्ध कल्पना और आदर्श से नहीं, ठोस व्यावहारिक सत्य से है।

'मार्क्सवाद' के भौतिक-सिद्धान्त के नितान्त विरोधी अन्तश्चेतनावादी लेखक और कवि भी अपने को यथार्थवादी ही कहते हैं। उनका यथार्थवाद अंतश्चेतना का यथार्थवाद है। इस मत के पोषक भी यही कहते हैं कि काव्य हमारी अंतश्चेतना की वासनाओं का चित्र होता है। मार्क्सवाद और अंतश्चे

दोनों का दृष्टिकोण भौतिक है। अन्तर केवल इतना है कि एक काव्य-चिन्तन को कल्पना मानकर चलता है दूसरा आनन्द भौतिकता का विश्लेषण करता है। एक का लक्ष्य सामाजिक-विकास का इतिहास करना है और दूसरे का लक्ष्य पदार्थ का मनोचित्र चित्रित करना। एक स्थूल समष्टि को लेकर चलता है दूसरा व्यष्टि के सूक्ष्म अन्तर की व्याख्या करता है।

अन्तश्चेतनावादियों ने काव्य सम्बन्धी धारणा ही पलट दी है। उनका विश्वास है कि कवि अपनी बहुत सी यथार्थ-अनुभूतियों कुछ सामाजिक प्रतिबंधों के कारण व्यक्त नहीं कर पाता है। अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिए वह माध्यम चुनता है। अपनी इन दमित एवं यथार्थ-अन्त वृत्तियों के प्रकाशन के लिए वह नए-नए उपमानों और प्रतीकों की योजना करता है। ये उपमान और प्रतीक उसके हृदय के निर्बाध-उद्गार होते हैं इनका महत्त्व मानस-विश्लेषण के सहारे समझा जा सकता है काव्यशास्त्र के सहारे नहीं। ये लोग कविता को किसी प्रकार की कला नहीं मानते। इनके मतानुसार वह केवल कवि के 'अन्तर्द्वंद्व संघर्ष' का विस्फोट है। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या इस कविता में किसी प्रकार का सत्य भी अन्तर्निहित रहता है? इसके उत्तर में वे लोग कहते हैं कि मानव की अन्तश्चेतना के सत्य की प्रतिष्ठा ही हमारे काव्य का प्राण है।

मार्क्सवादी-यथार्थवादी की विचारधारा अन्तश्चेतनावादियों से भिन्न होती है। ये लोग काव्य का सारा महत्त्व वर्ग-संघर्ष के प्रकाश मे आकते हैं। इनकी दृष्टि मे काव्य-सत्य कोई महत्व नही रखता। वह कवि कल्पना की वस्तु है। काव्य का मूल लक्ष्य उन सामाजिक सत्यखण्डो का उद्घाटन करना है, जो प्रत्यक्ष-जीवन मे अनुभूत होते हैं।

यथार्थवाद की इन दोनों आधुनिक-धाराओं का अध्ययन करने से अनुभव होता है कि काव्य-क्षेत्र मे आदर्शवाद की प्रतिक्रियायें बड़ा विकृत-रूप धारण कर रही है। ये दोनों ही धाराएँ हिन्दी मे योरोप से आई हैं। वे योरोपीय-संस्कृति के लिए चाहे हितकर रही हो, किन्तु भारतीय-संस्कृति के विरोध मे होने के कारण वे भारत के लिए कल्याणकर नही कही जा सकती। इनमे

"मार्क्सपद्धतीय-समाजवादी यथार्थवाद को युग-मार्ग समझकर हम ग्रह
कर सकते हैं, किन्तु अन्तश्चेतनावादियों का विकास हमारे जीवन और दे
लिए घातक हो सकता है। दूसरे देशों की नकल करने वाले कवियों है
यह अपेक्षित है कि भारतभूमि में विविध प्रकार की नई आदर्शवादी
का प्रवर्त्तन करें। इसमे इनकी मौलिकता भी होगी और देश के सर्
कल्याण भी होगा। इस दृष्टि से 'पन्त' ने अरविन्द-दर्शन की ओर झुक
पथ-प्रदर्शन किया, वह सराहनीय और अनुकरणीय है।

आदर्श और यथार्थ में अन्तर

'आदर्श' कल्पना के आधार पर जीवन के सुधरे हुए रूप का चित्रण क
है, किन्तु 'यथार्थ' बिना कल्पना का रग चढाये हुए जीवन का यथातथ्य चि
प्रस्तुत करता है। यदि 'यथार्थ' जीवन के नग्न सत्य का उद्घाटन करता है,
आदर्श 'स्वप्नलोक' को साकार करने की बात करता है। यदि यथार्थ सृ
नग्नसत्य के कुत्सित-चित्र उतारता है, तो आदर्श धरा में ही स्वर्ग उतार
की बात करता है। यदि आदर्श समाज-कल्याण की भावना से सत्प्रवृत्तियों
प्रचार करता है, तो यथार्थ जीवन के कुत्सित चित्रो का प्रदर्शन कर इन
को इनसे दूर रहने की प्रेरणा प्रदान करता है। वस्तुतः यथार्थवाद का
निषेधात्मक रूप अच्छा नही प्रतीत होता। यदि साहित्य में कुत्सित पात्रों
भरमार हो जायगी, तो इसका दुष्प्रभाव समाज पर भी पड़ेगा और कुरी
को पोषण मिलेगा।

इस प्रकार मुशी प्रेमचन्द जी के शब्दो मे दोनो मे समन्वय आवश्यक है
"आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।" य
यथार्थ को आकर्षक बनाने के लिए थोडे चुनाव की आवश्यकता है। साहि
कार का कर्त्तव्य है कि वह केवल बुराइयों का उद्घाटन कर पाठक की मान
समाज मे आस्था न उठा दे और घृणा का प्रचारक न बन जाय। इस प्रक
रूप मे हम कह सकते है कि वही साहित्य जीवन के लिए अधिक उप
हो सकता है, जिसमे यथार्थ और आदर्श का समन्वय प्रस्तुत कि
हो।

कला

कला की व्युत्पत्ति

अभिव्यक्ति की व्यग्रता, ही कला के जन्म का मूल कारण है। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है, उसमे सदैव आगे बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है। वह आदिम-युग से अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने के लिये व्यग्र होता आया है, भाषा भी इसी व्यग्रता का परिणाम है। भाषा के माध्यम से जब वह अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त नही कर पाता, तो वह अन्य साधनो को अपनाता है। मनोभावो को व्यक्त करने की यही अदम्य और शाश्वत-भावना—'कला' की जननी मानी जाती है। एक भावुक हृदय साधारण सी घटना से व्याकुल हो उठता है। उदाहरणार्थ—'क्रौंचवध' को देखकर आदि कवि के मुख से इसी करुणा के कारण सरस्वती का आदि-रूप प्रस्फुटित हो उठा।

कला की परिभाषा

कला की समन्वित परिभाषा के लिये भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो के मतों को जान लेना अति आवश्यक है। कला के सम्बन्ध मे पाश्चात्य देशो मे सैद्धान्तिक विवेचन अधिक हुआ है, जबकि भारतवर्ष में कला के सम्बन्ध मे व्यावहारिक विवेचन की ओर अधिक प्रवृत्ति रही है। पाश्चात्य देशो मे कला की परिभाषाएँ वाह्य से अन्तर की ओर हैं। अर्थात् उनमे प्राकृतिक अनुकरण के साथ मानसिक पक्ष की ओर सकेत भी मिलता है। अरस्तू और दान्ते के मतानुसार—कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृत्ति मे निहित है, और इस अनुकरण का विषय मौलिकता की दृष्टि से प्रकृति है, दान्ते ने अपने महाकाव्य 'डिवाइना कामेडिया' मे कला के विषय मे इस प्रकार कहा है — "Art, as for as it is able, follows nature, as a pupil imitates his master, thus your art must be, as it were, God's grandchild." दान्ते ने कला का सम्बन्ध ईश्वर और प्रकृति से माना है। परन्तु कला-प्रवृत्ति न केवल प्रकृति के अनुकरण मे ही सीमित है, और न केवल ईश्वर के अनुमोदन मे ही। मनुष्य का 'स्व' इन दोनो का स्वागत करते हुये

भी इनसे स्वतन्त्र रचना करता है। उसका यही 'स्व' पूर्णता को आत्मसात् कर सर्वोपरि हो उठता है। कला का सृजन इसी 'स्व' के कारण ही होता है।

एक अन्य पाश्चात्य विचारक 'क्रोचे' कला-उद्भावना के सम्बन्ध में कुछ अधिक मानवीय गौरव की रक्षा कर सके हैं और उन्होंने एक अर्थ में 'अनुकृतिवाद' के मनोवैज्ञानिक-पक्ष की विकसित दशा प्रस्तुत की है। वह 'मानसिक अभिव्यक्ति' को कला मानता है। अनुकृतिवाद में मानव-मन की अविकसित अवस्था विस्मय या कौतूहल की प्रेरणा से अनुकरणशील मानी गई है। यह अवस्था एक सतत्-चेतन प्रगति में विकास की विशेषताओं को एकत्र कर, आकर्षण और जिज्ञासा की प्रेरणा से स्वभावतः अभिव्यक्तिशील समझी गई है। यही क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' कहलाता है। इस प्रकार दान्ते की परिभाषा 'आत्म-प्रकाशन' पर तथा क्रोचे की परिभाषा 'अभिव्यक्ति' पर बल देती है। परन्तु भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक अधिक है, भारतीय विद्वानों ने कलाओं को उपविद्याओं के रूप में माना है। भर्तृहरि का सुप्रसिद्ध वाक्यांश इस कथन की पुष्टि करता है—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः'

आचार्य दण्डी ने भी देश-काल-विरोध की भाँति कला-विरोध भी एक दोष माना है। इसी प्रसंग में उन्होंने कला को 'कामार्थसंश्रया' कहा है और नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं को उसके अन्तर्गत माना है—

"नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः"

—काव्यादर्श (३।१६२)

भारतीय विद्वानों ने चौंसठ कलायें मानी हैं। उन्होंने कलाओं को एक प्रकार से विलास पुरुषों या स्त्रियों की शिक्षा का अंग माना है। जिसके अन्तर्गत नाचना, गाना, तैरना, चित्र बनाना, आदि बातें परिगणित हैं।

प्रसाद जी ने अपने 'काव्य और कला' शीर्षक निबन्ध में कला की परिभाषा इस प्रकार की है—"[illegible] इच्छा-शक्ति-प्रेरित [illegible] या प्रमाता में [illegible] को [illegible] रूप में प्रकट करती है, उसे [illegible] कला है।"

[illegible] और कला पृष्ठ ११

प्रसाद जी के मत में ईश्वर की कर्तृत्व-शक्ति का संकुचित रूप जो हमको बोध के लिये मिलता है वही कला है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई कला की परिभाषाओं का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—मनुष्य ने विश्व-सौन्दर्य के रूप में चरम चिरंतन आनन्द की आत्मानुभूति को जीवन के प्रति आस्था शक्ति और प्राणवत्ता के प्रसार के लिए व्यक्त कर देने की आवश्यकता पहिचानी। यही आवश्यकता कला की जननी हुई। अत: हम कह सकते हैं—

"विश्व-सौन्दर्य द्वारा प्राप्त आनन्द-बोध की स्वानुभूति को मनुष्य ने सचेष्ट होकर जिस क्षमता के साथ व्यंजित की वही 'कला' है।

निश्चय ही कला के मूल में सौन्दर्य-भावना की प्रधानता है। कला, कला के लिये न होकर, जीवन से पलायन के लिए न होकर—जीवन के लिए ही होती है। इसीलिये मानव जीवन में कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कलाओं का वर्गीकरण

कलाओं का वर्गीकरण प्रधानतया भौतिक तथा मानसिक दो पक्षों के आधार पर किया जा सकता है। कला की उपयोगिता भौतिक पक्ष से सम्बन्धित है, जब कि कला की सौन्दर्य बोधकता मानसिक पक्ष से सम्बन्धित है। इस प्रकार मोटे तौर पर कला के दो मुख्य भेद हुये—एक तो उपयोगी कलाएँ और दूसरी वे कलाएँ जिनका सम्बन्ध मानसिक पक्ष से अधिक है, जिन्हें 'ललित कलाएँ' कहा जा सकता है। इस प्रकार कला के—उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ, दो मुख्य भेद हुये। विद्वानों ने इनके भी कई भेद किये हैं — यह विभाजन पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार किया गया है।

उपयोगी कलाएँ

बढई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि की कलाओ को हम आनन्द की अभि-व्यक्ति नही कह सकते हैं। परन्तु उनमे भी आनन्द की अभिव्यक्ति हो सकती है जब कलाकार वस्तुओ का निर्माण मात्र उपयोग के लिये न कर उनमे कला-त्मक चमत्कार लाने का भी प्रयास करें तभी वे कलात्मक कृतियाँ बन सकती हैं। अतः हम सक्षेप मे कह सकते हैं कि जो वस्तुएँ साधन-रूप से सुख का सम्पादन करें, वे उपयोगी कलाएँ कहलाती हैं, इनके अन्तर्गत बढई, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि की वस्तुनिर्माण कलाएँ आती हैं। उपयोगी कलाओं द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति तथा उसके शारीरिक और आर्थिक विकास मे सहायता मिलती है।

ललित कलाएँ

'ललित कला' द्वारा मानसिक विकास और अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है, जिसमे भावो का उदात्तीकरण होता है। भावो का उदात्तीकरण निश्चय ही समाज के लिये शुभ होता है। ललित कलाओ के अन्तर्गत वे कलाएँ आती हैं, जिनका हमारे मानसिक और लोकोत्तर जीवन से सम्बन्ध है। ये अवकाश के समय हमारे मन मे एक अद्भुत आनन्द की सृष्टि कर हमे—एक ऐसी लोकोत्तर अवस्था मे पहुँचा देती हैं, जो ब्रह्मानन्द सहोदर मानी गयी है। कोचे के मत से कला का जन्म कलाकार के अन्तःकरण मे होता है। वहाँ पर विभाजन का कोई प्रश्न नहीं उठता। विभाजन कला का नहीं, वरन् कला-

तयो का, जो आन्तरिक कला के बाह्य रूप हैं, उनका होता है । सामग्री और अभिव्यक्ति के माध्यम के भेद से कलाओ मे भेद माना गया है । ललित कलाओं के इस वर्गीकरण मे पाश्चात्य विद्वानों की विचारधाराओ का गहरा प्रभाव पड़ा है । उन्ही के मतो के आधार पर ललित कलाओ के पाँच मुख्य वर्ग किये गये (१) वास्तुकला (२) मूर्तिकला (३) चित्रकला (४) सगीतकला (५) काव्य-कला आदि इनका विवरण इस प्रकार है ।

वास्तु-कला

'वास्तुकला' मे भावो की पूर्ण अभिव्यक्ति नही हो पाती है । वास्तुकला का निर्माण स्थूल पदार्थो से होना है, इसीलिये इसमे स्थूलता का आधिक्य रहता है, जबकि भावो की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये सूक्ष्मता आवश्यक है । इस कला का लाभ यह है कि बेडौल स्थूल वस्तुओ को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति मे बनाया जाता है । वस्तु आकर्षक बनाने की भावना मानव मे आदि काल मे चली आ रही है, इसी भावना ने इस कला को जन्म दिया । इसे गृहनिर्माण कला भी कह सकते हैं ।

मूर्तिकला

मूर्तिकला वस्तुत शास्त्रीय कला का प्रमुख उदाहरण है । इस कला के अन्तर्गत स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप ढाला जाता है । अस्तु अचेतन में चेतन का आरोप इस कला का आधार है । मूर्तिकार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी के अचेतन स्थूल टुकडो को चेतन-मन के कल्पनानुसार रूप प्रदान करने का प्रयास करता है । इस कला के सृजन मे जिन भौतिक उपकरणो का प्रयोग किया जाता है उनकी मात्रा वास्तुकला मे उपयोग होने वाले भौतिक उपकरणो से बहुत कम होती है । इसीलिये मूर्तिकार एव वास्तुकार से श्रेष्ठ माना जाता है, और मूर्तिकला भी वास्तुकला से श्रेष्ठ मानी जाती है । मूर्तिकला के द्वारा एक प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड मे जीवधारियो की प्रतिच्छाया बड़ी ही सूक्ष्मता से सगठित की जा सकती है । यही कारण है कि मूर्तिकला का उद्देश्य अचेतन मे चेतन की सुन्दरता या प्राकृतिक सुन्दरता प्रदर्शित करना है।

चित्रकला

चित्रकला की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि इसके द्वारा कम-से-कम भौतिक उपकरणों का प्रयोग कर अधिक-से-अधिक गम्भीरता की अभिव्यक्ति की जा सकती है। मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला में सूक्ष्म भावों का अंकन अधिक सफलता और प्रभविष्णुता के साथ किया जाता है। यही कारण है कि चित्रकला में मूर्तता कम और मानसिकता अधिक है। जिस कला में मूर्तता के स्थान पर मानसिकता या सूक्ष्मता का प्रयोग होता है वही कला श्रेष्ठ कला कहलाती है। इस दृष्टि से चित्रकला मूर्तिकला की तुलना में निश्चय ही श्रेष्ठ ठहरती है। चित्रकला की उपर्युक्त विशेषता के साथ ही उसकी अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं। चित्रकार किसी भाव के केवल एक क्षण का ही चित्रण कर सकता है। उसकी गतिशीलता का अंकन असम्भव है। परन्तु जिस क्षण का वह चित्रण प्रस्तुत करता है वह कला और भाव की दृष्टि से अनुपम होता है। ऐतिहासिक गुफाओं में बने चित्र चित्रकार की मूक अनुभूतियों को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम हैं।

संगीतकला

व्य-कला

काव्य-कला में भौतिक उपकरणों के स्थान पर भावों का आधिक्य है। न्तु काव्य के लिये भौतिक उपकरण अनिवार्य नहीं हैं। काव्य का वास्तविक धार शाब्दिक संकेत या अक्षर हैं, मस्तिष्क को इनका ज्ञान आँखों और नों द्वारा होता है। इसके माध्यम से प्रत्यक्ष जीवन की घटनाओं और प्राकृ- त दृश्यों का वास्तविक रूप मस्तिष्क में सरलता से अंकित किया जा सकता । ललित-कलाओं में ज्यों-ज्यों हम उच्चता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों उनका र्त-आधार कम होता जाता है। काव्य-कला में मूर्त आधार की आवश्यकता । नहीं है। इसीलिये ललित-कलाओं में काव्य-कला सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भी ललितकलाओं में काव्य-कला ही सर्वश्रेष्ठ कला है। कलाओं का मनुष्य जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों ही रूपों से मनुष्य जीवन को प्रभावित करती रहती हैं। कलाएँ हमारे जीवन पर कैसा प्रभाव डालती हैं? यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान ढूँढने में विद्वानों के दो प्रमुख वर्ग देखे जाते हैं। एक वर्ग के विद्वान ललित कला का मूल उद्देश्य—आनन्द देना मानते हैं। इस वर्ग के विद्वानों को 'आनन्द- वादी' भी कह सकते हैं। परन्तु दूसरे वर्ग के विद्वान ललित कलाओं में उप- योगिताओं की खोज करते हैं। इस वर्ग के विद्वानों को 'उपयोगितावादी' भी कहा जा सकता है। इस प्रकार कला के विषय में दो मत बन गये हैं।

१. 'कला कला के लिये'

२ 'कला जीवन के लिये'

कुछ भी सही, किन्तु इतना तो सभी आचार्य स्वीकार करते हैं कि — 'ललितकलायें' मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण है। जहाँ तक कला की श्रेष्ठता के मापने का प्रश्न है, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा और मन को प्रभावित करने की जितनी अधिक शक्ति होगी, वह कला उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायगी।

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर विवेचन करने से ही 'संगीतकला' और

'काव्यकला' अन्य कलाओं से श्रेष्ठ सिद्ध होती है और संगीत में तो कुछ आधार (सप्त स्वर आदि) होता भी है, किन्तु काव्य में वह भी नहीं है, अतः काव्यकला को कलाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। काव्य में के लिए व्यापक स्थान होता है, यह मानव जीवन के भूत और वर्तमा चित्रण कर भविष्य की झांकी प्रस्तुत कर देता है। इतना महनीय कार्य कोई कला नहीं पूर्ण कर पाती, अत कलाओं में काव्यकला का सर्वोच्च है।

कला के प्रयोजन

'मानव द्वारा अपने भावों को स्थिरता देने की भावना ने साहित्य जन्म दिया'—पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को ललित कलाओं के अन्त माना है, और उन्होंने कला के विवेचन में साहित्य के प्रयोजनों का विवे किया है। इस प्रकार उन्होंने कला के अनेक प्रयोजन माने हैं। उनमें कु प्रेरणा-रूप आन्तरिक हैं और कुछ प्रयोजन-रूप बाह्य हैं। भविष्य में ि प्रेरणाएँ ही प्रयोजन बना करती हैं। कुछ का सम्बन्ध सृष्टा से होता है कुछ का सम्बन्ध आस्वादक से होता है। विद्वानों ने कला के ९ प्रमुख प्रयो माने हैं :—

१. कला कला के लिये—Art for art's sake.
२ कला जीवन के लिये—Art for life's sake.
३. कला जीवन से पलायन के लिये—Art for an escape fro life.
४. कला जीवन में प्रवेश के लिये—Art for an escape into life
५. कला सेवा के लिये—Art for service's sake.
६. कला आत्मानुभूति के लिये—Art for self recration.
७ कला आनन्द के लिये— Art for Joy.
८ कला मनोरजन के लिये—Art for realisation.
९. कला सृजन की आवश्यकता पूर्ति के लिये—Art for creatine necessity.

उपर्युक्त वर्णित प्रयोजनों में दृष्टिकोण की भिन्नता तो अवश्य है परन्तु ये प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं है। इन सभी प्रयोजनों को दो र वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। (१) वह वर्ग, जो कला को न के लिये आवश्यक एवं आचार और नैतिकता का कलात्मक माध्यम मानता इस वर्ग के अन्तर्गत कला कला के लिये, कला जीवन से पलायन लिये, कला आनन्द के लिये, कला मनोरंजन के लिये कला सृजन की आव- कता पूर्ति के लिये आदि सभी प्रयोजन आते हैं।

(२) वह वर्ग, जो कला को जीवन की उन्नति और नैतिक सदाचार की पना के हेतु अत्यन्त आवश्यक और प्रधान सहायक मानता है। इसमें लोक- र की भावना प्रधान होती है, इसके अन्तर्गत कला जीवन के लिये, कला वन मे प्रवेश के लिये, कला सेवा के लिये, कला आत्मानुभूति के लिये आदि भी प्रयोजन आते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रमुख दो वर्ग (१) ला कला के लिये (२) कला जीवन के लिये ही विवेच्य हैं, जिनका अलग- लग विवेचन इस प्रकार है।

ला कला के लिये

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो' ने किया। न्होंने कला को जीवन की अनुकृति माना, उनके मतानुसार कलाकृतियों में ीवन का 'अनुकरण' ही सम्भव है, जीवन की 'प्रतिकृति' सम्भव नहीं हो कती। इस सिद्धान्त के पोषक आस्कर वाइल्ड, जे० ई० स्पिनगर्न टी० एम० लियट तथा ब्रैडले आदि पाश्चात्य विचारक भी माने जाते हैं।

इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक आस्कर वाइल्ड कला के क्षेत्र में काव्य-कला को सर्वश्रेष्ठ कला मानते हुये, काव्य-कला में शब्द की प्रभावशाली शक्ति को स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "काव्य सदाचार अथवा दुराचार की प्रतिपादिका कोई पुस्तक नहीं है। जो कुछ है, वह इतना ही कि कोई पुस्तक

कलावादी प्रमुख विचारक

१. आस्कर वाइल्ड

अच्छे ढंग से लिखी गई है, या बुरे ढंग से लिखी गई। निक सहानुभूति की भावना अक्षम्य है। सम्पूर्ण कला इस प्रकार आस्कर वाइल्ड 'कला' तथा 'आचार' को इसी प्रकार प्रमुख कलावादी विचारक जे० ई० स्पिनार्न णीय हैं।' "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुरा जैसा कि रेखागणित के समबाहु त्रिभुज को सदाचार त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" अतः स्पिन्गर्न महोदय व्यापक विरोध करते हैं। कलावादी दृष्टि के एक अन्य एवं अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि टी० एस० इलियट के विचार भी शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है की शिक्षा, राजनीति मार्ग-दर्शन, धार्मिकता या उनकी अतः इलियट महोदय भी नैतिक दृष्टि से कला की परीक्षा परम्परा मानते हैं

उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त पाश्चात्य कुछ अन्य विचारधाराएँ जैसे फ्रायड का 'स्वप्न-सिद्धान्त', 'यथार्थवाद', अभिव्यंजनावाद आदि भी कला कला के लिये सिद्धान्त की समर्थक फ्रायड कल्पना को ही काव्य का मूलाधार मानते हैं, उनका मनुष्य जिन अवरुद्ध वासनाओं की पूर्ति जागृत-लोक में नहीं कर पूर्ति स्वप्न के कल्पना-लोक में करता है। अतः कलाकार अपनी कलाकृतियों में उन्हीं अवरुद्ध वासनाओं का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर फ्रायड का यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध चुका है। क्योंकि विश्व की समस्त श्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकांशतः निष्ठावान व्यक्तियों द्वारा ही प्रतिपादित की गई हैं।

यथार्थवादी—आहार निद्रा, भय और मैथुन को ही मानव की

मानते है। मनुष्य की प्राकृनिक वृत्तियाँ ही कृतियो मे सजीव होती
आहार, निद्रा, भय और मैथुन ही समस्त कलाकृनियो का मूलाधार
न्तु यह सिद्धान्त भी अधिक तर्क सगत प्रतीत नही होता, क्योकि
क विवेकशील प्राणी है। वह हृदय मे अनुभव करता है और मस्तिष्क
। कला सभ्यता की प्रतीक है। अत उसमे मनुष्य की मूल प्रवृत्तियो
साथ उदात्त-प्रवृत्तियो का भी अभिव्यक्तीकरण होना नितान्त स्वाभा-
। हृदय और मस्तिष्क दोनो के ही सहयोग से कला का सृजन होता है।
चे 'अभिव्यक्ति' को ही कला का मूलाधार मानते हैं। परन्तु वह
तीय है कि जब तक अनुभूति ही नही होगी तब तक अभिव्यक्ति का क्या
ो सकता है। अभिव्यक्ति की ही अभिव्यक्ति तो केवल साधन मात्र है,
तु का रूप या गुण नही धारण कर सकती है। अत इस सन्दर्भ मे
ा मत भी असगत और अपूर्ण ठहरता है।

ा

नुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज का आधार सदाचार है। कलाकार
दाचार का कलात्मक स्वरूप अपनी कलाकृतियो मे प्रस्तुत करता है।
ला जादू के खेल की भाँति चमत्कार उत्पन्न कर लोगो को आश्चर्यचकित-
ी कर देती है, तो वह स्थायी रसात्मकता नही उत्पन्न कर सकती,
रसात्मकता तो अनुभूति की गहराई से उत्पन्न होती है। 'कला कला
ये' सिद्धान्त कला मे अनुभूति-पक्ष से सर्वथा रहित है, वह अभिव्यक्ति
अभिव्यक्ति मात्र है। अत यह [illegible] एकागी और अपूर्ण प्रतीत होता
ला मे केवल नग्न सुन्द[illegible] शिव भी अनिवार्य है, कलाकार
न्दरम् के साथ [illegible] होना चाहिये।

कला के उपयोगितावादी दृष्टि को अपनाया है, उन्होंने कला में सुन्दर साथ-साथ शिव पर भी विशेष बल दिया है। यहाँ के विद्वानों ने कला उदय जीवन से माना है, कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या ही नहीं वरन् दिशा भी देना है। कला जीवन को जीवन प्रदान करती है, और जीवन योग्य बनाकर उसे ऊँचा उठाती है। वह जीवन में नए आदर्शों की [illegible] कर उनका प्रचार करती है। इस मत के समर्थकों में मैथ्यू आर्नोल्ड, आई॰ ए॰ रिचर्ड्स, एबर क्राम्बी, कार्लाइल, शेली तथा मिल्टन आदि प्रमुख हैं। विद्वानों ने कला में लोक-पक्ष, धर्ममिश्रित कलावाद, उपयोगितावाद तथा [illegible] निर्धारणवाद आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कला में नैतिकता महत्व को स्पष्ट करते हुये मैथ्यू आर्नोल्ड ने कहा है—

"जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति [illegible] पूर्ण है।"[1]

इसी प्रकार कार्लाइल ने भी कला में कलाबाजी के प्रति अपनी प्र[illegible] अभिव्यक्त की है। "A Pack of lies that fowl creature write [illegible] diversion"[2] वर्ड्सवर्थ ने लिखा है—"स्वभावगत् प्रेरणाओं के यान्त्रिक अनु[illegible]नुशासन का अर्थ—प्रकृति की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृति है, जिस ओर वह दौडता ही है, परन्तु कवि का कृतित्व उस प्रवृत्ति को ही पवित्र [illegible] है।"[3] अतः कला वही है जो अपनी कलात्मक निकाई से जन-जीवन को [illegible] दर्श के अनुकूल बना सके।[4] शेली का मत भी भारतीय रस-दर्शन का [illegible]र्थक है।

कला मे उपयोगितावादी दृष्टिकोण के पाश्चात्य समर्थक।

१. मैथ्यू आर्नोल्ड
२. कार्लाइल
३. वड्सवर्थ
४. मिल्टन
५. शैली आदि।

अधिकांश भारतीय साहित्यकार एवं विचारक भी कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने साहित्य को उपयोगी मानते हुए कहा है—"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।" बंकिम बाबू कलाकार को मार्ग-द्रष्टा मानते हैं, उनका दृष्टिकोण है कि कलाकार कला के माध्यम से समाज की भावनाओं का परिष्कार कर उन्हें संस्कारित करता है। उनके शब्दों में "कवि समाज के शिक्षक हैं, किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौंदर्य की चरम सृष्टि करके समाज का चित्त-शुद्धि करते हैं। यही सौंदर्य की चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। तुलसी ने 'मानस' की रचना स्वान्तः सुखाय की थी, किन्तु तुलसी का सुख उनका अपना व्यक्तिगत सुख नहीं था मानव-मात्र का सुख था। इसीलिये उनकी कृति श्रेष्ठ कलाकृति और वे श्रेष्ठ कलाकार हो गये। कला के वास्तविक रूप की व्याख्या कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस प्रकार की है—

> "हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा,
> यदि वही हमने कहा तो क्या कहा?
> किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
> व्यक्त करती है कला ही वह यहाँ।'

संसार के प्राय सभी समाजसुधारकों, नेताओं और महापुरुषों ने कला की उपयोगिता पर सबसे अधिक बल दिया है। महात्मा गाधी, लेनिन, टाल्सटाय

कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के प्रमुख भारतीय समर्थक

१ मुंशी प्रेमचन्द
२ बंकिम बाबू
३ आचार्य मम्मट
४. महात्मा गाधी
५ मैथिलीशरण गुप्त आदि।

आदि सभी इसके समर्थक रहे हैं।

समीक्षा

'कला जीवन के लिये' सिद्धात को मानने वाले कला के माध्यम से [illegible] मे सर्वत्र व्याप्त सत्य की खोज करते हैं। सत्य ही ईश्वर है। इसीलिए [illegible] और शिव मे कोई अन्तर नही, क्योकि ईश्वर ही शिवं है। अतः जो सत्य [illegible] शिव है, वह सुन्दर भी स्वत ही है। इस प्रकार 'कला जीवन के लिये' सि[illegible] मे सत्य, शिव और सुन्दरम् तीनो ही निहित हैं, जबकि 'कला कला के लि[illegible] सिद्धान मे सुन्दरम् की ही प्रधानता है। अत. यह एकांगी दृष्टिकोण [illegible] रता है।

निष्कर्ष

शाश्वत कला वह कला है जो मनुष्य की सहज भावनाओ और प्रवृत्ति[illegible] पर आधारित होती है। जब शाश्वत भावनाएँ कला के अन्तर्गत मूर्त-रूप [illegible] कर लेती हैं तब कला सार्वकालिक कला बन जाती है। मनुष्य की सहज [illegible] तियाँ आनन्द, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति कला मे जब सह[illegible] पूर्वक होती है तो वह समय, देश और जाति के बंधन मे न बँधकर सार्वदे[illegible] और सार्वकालिक हो जाती हैं, यही शाश्वत कला है। इसका सृष्टा कला[illegible] भी अमर हो जाता है। वाल्मीकि, कालिदास, सूर तुलसी आदि इसी [illegible] अमर हैं।

संक्षेप मे कला न तो एकदम जीवन से पृथक ही हो और न उपदे[illegible] प्रचार का साधन मात्र ही बने। अत. कला को मध्यम मार्ग का ही अनु[illegible] चाहिये।

---

३ | काव्य-सम्प्रदाय

काव्य की आत्मा

भारतीय साहित्य-शास्त्र मे लगभग दस या बारह शताब्दियों पूर्व एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया था कि साहित्य या काव्य की आत्मा क्या है ? सामान्यत 'आत्मा' शब्द का अर्थ है—विश्व का वह सार तत्व जो सभी प्राणियो मे निवास करता है, तथा जिसके अभाव मे कोई प्राणी जीवित नही रह सकता । यहाँ 'आत्मा' का तात्पर्य है कि जिसके कारण कोई रचना साहित्य की श्रेणी मे आती है तथा जिसके अभाव मे किसी भी रचना को साहित्य नही कहा जा सकता । इस प्रकार यहाँ 'आत्मा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ 'मूल-शक्ति' ।

प्राचीन दर्शन-शास्त्र मे जो स्थान 'आत्मा' का था, वही स्थान लगभग आधुनिक विज्ञान मे 'शक्ति' का है । भरतमुनि से लेकर पण्डित राज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षो मे इस विषय को लेकर मुख्यत छ सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ जो इस प्रकार है ।

भारतीय मत १ रस सम्प्रदाय २ अलकार-सम्प्रदाय ३ रीति-सम्प्रदाय ४ वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ५ ध्वनि-सम्प्रदाय ६ औचित्य-सम्प्रदाय

१. रस काव्यात्मा के रूप में

रस-सम्प्रदाय के कुछ आचार्यो के अनुसार काव्य की आत्मा रस है । रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत मुनि माने जाते है । उन्होने—"आस्वादन आना ही रस है ।" यह माना है । भरतपरवर्ती आचार्यो–धनजय, अभिनवगुप्त, मम्मट एव विश्वनाथ ने भी इसका सम्बन्ध 'आस्वादन' या 'काव्यास्वादन' से स्थापित किया है । अर्थात् काव्य के आस्वादन से पाठक को जिस आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है ।

भरत- नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

राजशेखर- शब्दार्थौ ते शरीरं रस आत्मा ।

विश्वनाथ- वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।

जगन्नाथ- रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

भारतेन्दु- जामैं रस कछु होत है पढ़त ताहि सबकोय ।
बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय ॥

इस प्रकार इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने रस को ही कविता का प्राण, जो यथार्थ कवि है उसकी कविता में रस अवश्य होता है, नीरस कविता नहीं । यह मान्यता स्थापित की है ।

आक्षेप

रस कोई काव्यगत तत्त्व नहीं है, रस तो काव्यास्वादन की प्रक्रि- उत्पन्न होने वाला तत्त्व है जिसकी स्थिति सहृदय पाठक में मानी गई है ऐसी स्थि- में रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है । अतः तत्त्व का अनुसंधान करना है, जो रस उत्पन्न करता है, अर्थात् रसोत्पादक । इस रस के उत्पादक या आधारभूत कारण के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्य, एक मत होकर 'स्थायीभाव' को ही रस का आधारभूत तत्त्व माना है । स्थायी भाव अपने व्यंजक तत्त्व-विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि से मिल- रसोत्पत्ति करते हैं । कुछ आचार्यों ने संचारीभाव को ही काव्य की आ- माना है । परन्तु ऐसा उचित नहीं, साधन को साध्य नहीं माना जा सक- है । रस यदि उस आत्मा या शक्ति का कार्य है, तो स्थायीभाव उसका कार- है । अतः विभावानुभाव, संचारी या व्यभिचारी भावों आदि के संयोग से र- की निष्पत्ति होती है, जो सहृदय पाठक के हृदय को प्रभावित करती है । इस रस को रसवादियों ने काव्यात्मा माना है ।

२. अलंकार काव्यात्मा के रूप में

रस-सम्प्रदाय के पश्चात् अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना हुई । इस सम्- के प्रमुख आचार्य भामह, दण्डी और जयदेव हैं । भामह ने कहा कि

ार कोई नारी कितनी ही सौंदर्ययुक्त क्यों न हो, यदि अलकार विहीन है, शोभा सम्पन्न नही कही जा सकती । इसी प्रकार काव्य मे चाहे कितने ही ग क्यो न हो, यदि उसमे अलकारो की योजना नही है तो वह आह्लादकारी ी हो सकता ।

"न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिता मुखम् ।"

हिन्दी आचार्यो पर इस सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव नही पड़ा रीतिकाल केवल आचार्य केशवदास ही एक मात्र ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होने इस मत समर्थन किया ।

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त
भूषन बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ।"

कुछ आचार्यों ने अलंकारो का आधारभूत तत्व 'वक्रोक्ति' माना है उनका य वाणी मे चारुता उत्पन्न करने का है ।

ाक्षेप

अलकार और सौन्दर्य की सत्ता अलग-अलग नही है या एक है । एक थान पर वामन ने कहा "सौन्दर्यमलंकार' अर्थात् अलकार ही सौंदर्य है या ौंदर्य ही अलकार है यदि अलकार और सौदर्य एक हैं तो यह अलकारवादियो ो कहने की आवश्यकता क्यों हुई कि अलकारो से काव्य मे शोभा उत्पन्न होती । स्पष्ट यहाँ 'अलकार' और 'शोभा' दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं, जिनका रस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है । यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखे, तो भी सौदर्य और अलकार अभिन्न सिद्ध नही होते । सौदर्य-रहित अलकार और अलकार रहित सौदर्य दोनो के ही अस्तित्व का विरोध नही किया जा सकता । अत ऐसी स्थिति मे 'सौदर्य' मे 'अलकार का प्रतिनिधित्व स्वत ही हो जाता है । इस प्रकार अलकार काव्यात्मा नही है ।

२. रीति काव्यात्मा के रूप मे

अलकार-सम्प्रदाय के पश्चात् रीति-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ । इस सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य 'वामन' है । वामन ने रस और अलकारो के

व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर हो उसे ही ध्वनि कहा जाता है। इसी प्रकार काव्य तीन भेद किये गये हैं (१) ध्वनि काव्य (२) गुणीभूतव्यंग्य काव्य (३) चित्र काव्य। जिस काव्य में अभिधार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ समान होते हैं उसे 'गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य' कहते हैं और जिस काव्य में वाच्य चित्रों का चमत्कार होता है उसे 'चित्रकाव्य' कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्तम काव्य वहीं होता है जिसमें ध्वनि मुख्य होती है। अर्थ के साथ ध्वनि का साहचर्य उसी महत्ता का द्योतक है, जो सुन्दर रमणियों के सौन्दर्य के लावण्य का होता है।

ध्वनि सिद्धान्त में काव्य के सौन्दर्य के एक विशेष एवं अनिर्वचनीय उपादान की ओर संकेत किया गया है। इसीलिये यह सम्प्रदाय रस-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा है। यह सच है कि इस सम्प्रदाय के विरोध में भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, परन्तु विरोधों से पड़कर यह सिद्धान्त और चमकता गया।

हिन्दी में भी इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा। आचार्य कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने इसकी मान्यता को स्वीकार किया है। रसेतर सम्प्रदायों की भाँति इस सम्प्रदाय के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि यद्यपि काव्य में ध्वनि का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इसे काव्यात्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ध्वनि में भी 'रसध्वनि' सर्वश्रेष्ठ मानी गई है, अतः रस की मुख्यता स्वतः सिद्ध है, यह बात दूसरी है कि ध्वनि का रस के साथ विशिष्ट सम्बन्ध है।

५. वक्रोक्ति काव्यात्मा के रूप में

साहित्य में ध्वनि सिद्धान्त के दृढ़ स्थापन काल में ही वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रस्थापक आचार्य कुन्तक हैं। कुन्तक के समय में आनन्दवर्धनाचार्य के 'ध्वनिसिद्धान्त' की महत्ता प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार कर ली थी। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्थापित अलंकार, रीति, रस, औचित्य आदि सम्प्रदायों का अन्तर्भाव ध्वनि-सम्प्रदाय में ही करके आनन्दवर्धनाचार्य ने

उन सभी काव्य तत्वों की निश्चित रूपरेखा और महत्व स्थिर कर दिया किन्तु आचार्य कुन्तक ने ध्वनि के इस व्यापक सिद्धान्त का विरोध कर 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' की उद्घोषणा की। भारतीय-साहित्य में 'वक्रोक्ति' प्राचीनकाल से ही किसी न किसी रूप मे प्रयुक्त थी। कुन्तक ने इसे व्यापक रूप देकर सम्प्रदाय विशेष के रूप मे प्रतिष्ठित किया।

वक्रोक्तिवादी आचार्य इस उक्ति-वैचित्र्य को शब्द-गत, अर्थगत और उभयगत मानते हैं। शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के बिना काव्य के उद्देश्य का पूर्ण प्रसार नहीं हो सकता। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के ६ भेद माने।

१. वर्ण-विन्यास वक्रता २ पद- पूर्वार्द्ध वक्रता ३ पद-परार्द्ध वक्रता
४ वाक्य वक्रता ५ प्रकरण वक्रता ६ प्रबन्ध-वक्रता।

प्रसिद्ध कथन से भिन्न अभिधा, अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य पूर्ण शैली द्वारा उक्ति है। 'वैदग्ध्य' का अर्थ है विदग्धता, कविकर्म कौशल उसकी भंगिमा या शोभा उसके द्वारा उक्ति, विचित्र अभिधा की वर्णन शैली को ही वक्रोक्ति कहते है। वक्रोक्ति को 'काव्यात्मा' स्वीकार करने पर कुन्तक रस की उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने रस की महत्ता के साथ वक्रोक्ति को भी महत्व प्रदान किया। वस्तुत. यह काव्य का शरीर है क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने इसे अलकार माना है। अस्तु, इसे काव्यात्मा कह सकते।

६. औचित्य काव्यात्मा के रूप में

आचार्य 'क्षेमेन्द्र' इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते है। उन्होंने इसे का प्राण घोषित किया है। उन्होंने परिभाषा करते हुये कहा जो जिसके योग्य अनुरूप हो, आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं इस उचित का भाव ही 'औचित्य' है। दूसरे शब्दों मे प्रत्येक वस्तु का उचित रूप मे वर्णन ही औचित्य

साहित्य के बाहर भी औचित्य की प्रतिष्ठा है। इतिहास, नीति, की पुस्तकों मे भी औचित्य की प्रतिष्ठा मिलती है, जबकि ये काव्य की सीमा के बाहर के है। 'औचित्य' काव्य क्षेत्र की सीमा के बाहर पड़ता चित्य' काव्य-सौंदर्य के विभिन्न साधनों में से एक है। वह काव्य

तत्त्व तो है किन्तु आधारभूत तत्त्व नहीं। उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है औचित्य काव्य की शोभा, चारुता, रुचिरता के साधक तत्त्वों में से एक है, न साध्य सौन्दर्य है।

दायों का समन्वय

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१ प्राय प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका र्दन किया है।

२. ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार, रीति और वक्रोक्ति-म्प्रदाय काव्य के बहिरंग पक्ष को मान्यता देते हैं।

३. ध्वनि, रस, और औचित्य सम्प्रदाय काव्य के अन्तरंग पक्ष को प्रधानता हैं।

अत सम्प्रदायों को दो पक्षों में बाँटा जा सकता है पहला पक्ष बहिरंगवादी देहवादी और दूसरा अन्तरंगवादी या आत्मवादी। अलंकार सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय, और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय देहवादी हैं और ध्वनि तथा रस सम्प्रदाय आत्मवादी हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शरीर के सौन्दर्य की अपेक्षा आत्मा का अस्तित्व अनिवार्य है। आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अत आत्मवादी सम्प्रदायों का स्थान श्रेष्ठ है।

अलंकार रीति ध्वनि आदि सभी तत्त्व काव्य में सौन्दर्य शोभा चारुता रमणीयता आदि के उत्पादन में साधनमात्र हैं—इनका साध्य है—सौन्दर्य शोभा चारुता, रमणीयता आदि जो वस्तुतः एक ही तत्त्व की विभिन्न [illegible] के [illegible] हैं। अत इन सबके स्थान पर किसी एक सामान्य सत्ता का प्रकाश करते हुए समन्वय स्थापित किया जा सकता है। [illegible] आकर्षण शक्ति ही ऐसा तत्त्व प्रतीत होता है जो साहित्य का [illegible] मान लिया जा सकता है। अलंकार रीति, वक्रोक्ति ध्वनि औचित्य आदि उसके उत्पादक या साधक तत्त्व हैं। अतः भारतीय दृष्टिकोण से [illegible] शक्ति को काव्य की आत्मा माना जा सकता है। यह आकर्षण-शक्ति [illegible] है जिसे 'रस' की संज्ञा प्राप्त है। इस प्रकार रस को ही काव्यात्मा मानना

संगत प्रतीत होता है ।

विशेष :—भारतीय काव्यशास्त्र मे सुप्रसिद्ध षट् सम्प्रदायों का संक्षिप्त
चय देने के पश्चात् इनका पृथक् विस्तृत-परिचय भी दिया जाना आव
प्रतीत होता है, अतः अगले पृष्ठों मे क्रमशः अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्व
रस तथा औचित्य-सम्प्रदाय का विस्तृत-विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य-सम्प्रदाय

काव्य के क्षेत्र मे भारतवर्ष अति प्राचीनकाल से ही गौरवास्पद रहा
इस क्षेत्र मे भारतीय आचार्यों ने पर्याप्त चिन्तन एवं मनन किया है। इन
पियो के विभिन्न चिन्तन-क्षेत्र रहे है। इनके चिन्तन को ६. भागो मे विभ
किया जा सकता है, जो काव्य-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी सम
काव्य की आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :—

१ अलकार-सम्प्रदाय २ वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ३ रीति-सम्प्रदाय ४.
सम्प्रदाय ५. रस-सम्प्रदाय ६ औचित्य-सम्प्रदाय

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायो का विशेष-विवरण अपेक्षित है। यहाँ प्रस
मे हम उक्त सभी सम्प्रदायो का समीक्षात्मक-परिचय प्रस्तुत कर रहे है।

अलंकार-सम्प्रदाय

अलकारो का प्रयोग वैदिक-साहित्य से ही देखने को मिलता है, कि
तक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो का प्रश्न है, आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र
शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें उपमा, रूपक, दीपक, और यमक,
अलकारो का उल्लेख मिलता है। इसके अनन्तर अग्निपुराण मे १
के अलकारो की चर्चा मिलती है, तदनन्तर अलकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक
भामह ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालकार' मे ३८ अलकारो का विवेच
किया है। इनके पश्चात् आचार्य दण्डी ने अपेक्षाकृत अधिक सरल-ढ
रो का विवेचन किया है। भामह के द्वारा स्वीकृत दो-तीन
नही माने। उदाहरणार्थ इन्होने प्रतिवस्तूपमा अलकार को
न की। भामह ने वक्रोक्ति को अलकारो का मूल बताया था पर

अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूल सिद्ध किया। इनके अनन्तर आचार्य उद्भट ने ४१ अलंकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। इनका काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ "काव्यालंकार सार संग्रह" के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी देन यह है कि इन्होंने अनुप्रास के दो नये भेदों की कल्पना की, श्लेष अलंकार को अर्थालंकार के रूप में मान्यता दी और दृष्टान्त, काव्यलिंग एवं पुनरुक्तवदाभास, इन तीन अलंकारों की नूतन-उद्भावना की। इनके अनन्तर लगभग ९ वीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने ५० से भी अधिक अलंकारों का विवेचन 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में किया। इनकी मुख्य देन यह है कि इन्होंने सर्व प्रथम अलंकारों का चतुर्धा वर्गीकरण किया—

१. वास्तव, २. औपम्य, ३ अतिशय, ४ श्लेष। इन्होंने अलंकारों में बहिर्भूत रस की सत्ता स्वीकार की। इनके पश्चात् लगभग १० वीं शताब्दी में भोजराज ने २४ शब्दालंकार २४ अर्थालंकार और २४ उभयालंकार माने। रसवादी आचार्य होने पर भी इन्होंने अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' इनका प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ माना जाता है। भोज के अनन्तर आचार्य 'मम्मट' ने आठ शब्दालंकारों और ६२ अर्थालंकारों पर विद्वत्तापूर्ण विचार प्रस्तुत किया इनका 'काव्य प्रकाश' ग्रन्थ इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

द्वादश शतक में आचार्य रुय्यक ने १० शब्दालंकारों और ७५ अर्थालंकारों का सूक्ष्म विवेचन 'अलंकार-सर्वस्व' नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। ये अलंकारवादी आचार्य थे, इन्होंने अलंकारों का जो वर्गीकरण किया है वह पूर्व आचार्यों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। द्वादश शताब्दी में कविवर जयदेव ने अपने 'चन्द्रलोक' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में ४ शब्दालंकारों तथा १०० अर्थालंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इनकी मान्यता है कि बिना अलंकारों के काव्य की रचना सम्भव ही नहीं है। इनके अनन्तर रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्य दर्पण" में अलंकारों का सूक्ष्म-विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके अनन्तर आचार्य अप्पय दीक्षित ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' में १०८ अर्थालंकारों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकार शास्त्र की

पन प्रसिद्ध है। उन्होंने सदा काव्य के बाह्य तत्त्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है यही कारण है कि भामह ने काव्य में अलंकारों का स्थान सर्वोपरि बताया है। जिस प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर होने पर भी बिना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार काव्य कितना भी सुन्दर क्यों न हो, किन्तु अलंकारों के अभाव में वह शोभायमान नहीं हो सकता।

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।"

भामह के मत में अलंकार का मूल 'वचन वैचित्र्य' है जो सामान्यतया लोक वर्णित वचनावली से भिन्न हो इस प्रकार इन्होंने 'वक्र' शब्द और 'वक्र' अर्थ को ही काव्य माना है। भामह की यह देन है कि इन्होंने गुणों की अपेक्षा अर्थवत्ता-युक्त अलंकार को अधिक मान्यता दी है। विचार करने से यह प्रतीत होता है कि भामह की दृष्टि काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष तक ही सीमित रही है। इन्होंने अनुभूति पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। परिणामत: 'रस' जैसी महत्वपूर्ण वस्तु उपेक्षित ही रह गई है।

दण्डी

इन्होंने 'काव्यादर्श' में अलंकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है।

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"

अर्थात् काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्मों (आन्तरिक तत्वों) को अलंकार कहते हैं। दण्डी ने भी रस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की है, अपितु रसवत्, प्रेय, और ऊर्जस्वि अलंकारों के रूप में अन्तर्भावित किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने नाटक की सन्धियों और वृत्तियों को भी अलंकार की सीमा में सिमेट लिया है, क्योंकि इन सभी उपकरणों के द्वारा काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। इन्होंने भामह के विरुद्ध एक नवीन मान्यता यह स्थापित की है कि अलंकार का मूल वक्रोक्ति (वचन वैचित्र्य) नहीं, अपितु अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दण्डी ने भी काव्य शरीर तक ही अपनी विचार दृष्टि रक्खी है काव्यात्मा पर उनका ध्यान नहीं गया।

वामन

यद्यपि आचार्य वामन शुद्ध अलंकारवादी नहीं माने जाते, क्योंकि इन्होंने

यह परम्परा पण्डित राज जगन्नाथ' तक प्रचलित रही और उन्होंने भेदों उपभेदों का विवेचन किया गया ।

अलंकार की परिभाषा

अलंकारों के विवेचन से पहले यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'अलंकार' शब्द का क्या अर्थ है। प्रायः विद्वान् इसकी दो प्रकार की व्याख्याएँ करते हैं—'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात् जो अलंकृत करे उसे अलंकार कहते हैं। द्वितीय व्याख्या है, 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' अर्थात् जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय, वह अलंकार है। इन दोनों व्याख्याओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु सूक्ष्म अन्तर यह है कि प्रथम में अलंकार से स्वतंत्र अस्तित्व और दूसरे में अलंकार साधन मात्र सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार आभूषण शरीर को अलंकृत करते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्य को अलंकृत करते हैं। अलंकारवादी आचार्यों (भामह, दण्डी, रुद्रट आदि) ने अलंकार को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले सहज धर्म के रूप में मान्यता दी है। इसका कारण यह है कि कवि अपनी अनुभूतियों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए अलंकारों का आश्रय लेता है। सामान्य कथन से काव्य में प्रभाव नहीं उत्पन्न होता है। किन्तु यदि उसी बात को उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से कहा जाय तो उसी बात में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जायेगा और उसकी रमणीयता में भी वृद्धि होगी। काव्य में अलंकार को अनिवार्य तत्त्व मानते हुए आचार्य 'जयदेव' ने लिखा है। "कि जो व्यक्ति काव्य को अलंकार रहित मानता है। वह अग्नि को भी ऊष्मा रहित क्यों नहीं मानता।"

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥ —चन्द्रालोक

अग्निपुराण में भी अलंकार को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया गया है। 'अर्था अलंकार रहिता विधवैव सरस्वती', अर्थात् अलंकारों से शून्य काव्य विधवा के समान है।

भामह—अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में भामह का नाम

स प्रसिद्ध है। उनके समय काव्य के शरीर तत्त्व की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है यही कारण है कि भामह ने काव्य में अलंकारों का स्थान सर्वोपरि बताया है। जिस प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर होने पर भी बिना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार काव्य कितना भी सुन्दर क्यों न हो, किन्तु अलंकारों के अभाव में वह शोभायमान नहीं हो सकता।

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।"

भामह के मत में अलंकार का मूल 'वक्र वैचित्र्य' है जो सामान्यतया लोक प्रचलित वचनावली से भिन्न हो इस प्रकार इन्होंने 'वक्र' शब्द और 'वक्र' अर्थ को ही काव्य माना है। भामह की यह देन है कि इन्होंने गुणों की अपेक्षा अर्थ-वक्रता-युक्त अलंकार को अधिक मान्यता दी है। विचार करने से यह प्रतीत होता है कि भामह की दृष्टि काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष तक ही सीमित रही है। उन्होंने अनुभूति पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। परिणामतः 'रस' जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु उपेक्षित हो रह गई है।

दण्डी

इन्होंने 'काव्यादर्श' में अलंकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है।

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।"

अर्थात् काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्मों (आन्तरिक तत्त्वों) को अलंकार कहते हैं। दण्डी ने भी रस की स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की है, अपितु रसवत्, प्रेय, और ऊर्जस्वि अलंकारों के रूप में अन्तर्भावित किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने नाटक की सन्धियों और वृत्तियों को भी अलंकार की सीमा में सिमेट लिया है, क्योंकि इन सभी उपकरणों के द्वारा काव्य की शोभा में वृद्धि होती है। इन्होंने भामह के विरुद्ध एक नवीन मान्यता यह स्थापित की है कि अलंकार का मूल वक्रोक्ति (वचन वैचित्र्य) नहीं, अपितु अतिशयोक्ति है। इस प्रकार दण्डी ने भी काव्य शरीर तक ही अपनी विचार दृष्टि रक्खी है काव्यात्मा पर उनका ध्यान नहीं गया।

वामन

यद्यपि आचार्य वामन शुद्ध अलंकारवादी नहीं माने जाते, क्योंकि इन्होंने

न प्रसिद्ध है । उसमें समस्त काव्य के शरीर तत्व की ओर विशेष ध्यान दिया
जा रहा है यही कारण है कि भामह ने काव्य में अलंकारों का स्थान सर्वो-
परि बताया है । जिस प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर होने पर भी बिना आभू-
षणों के शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार काव्य कितना भी सुन्दर क्यों न
, किन्तु अलंकारों के अभाव में वह शोभायमान नहीं हो सकता ।

"न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम् ।"

भामह के मत में अलंकार का मूल 'वचन वैचित्र्य' है जो सामान्यतया लोक
प्रचलित वचनावली से भिन्न हो इस प्रकार इन्होंने 'वक्र' शब्द और 'वक्र' अर्थ
को ही काव्य माना है । भामह की यह देन है कि इन्होंने गुणों की अपेक्षा अर्थ-
कता-युक्त अलंकार को अधिक मान्यता दी है । विचार करने से यह प्रतीत
होता है कि भामह की दृष्टि काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष तक ही सीमित रही है ।
इन्होंने अनुभूति पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया । परिणामतः 'रस' जैसी महत्व-
पूर्ण वस्तु उपेक्षित ही रह गई है ।

दण्डी

इन्होंने 'काव्यादर्श' में अलंकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है ।

"काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।"

अर्थात् काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्मों (आन्तरिक तत्वों) को
अलंकार कहते हैं । दण्डी ने भी रस की स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की है,
अपितु रसवत्, प्रेय, और ऊर्जस्वि अलंकारों के रूप में अन्तर्भावित किया है ।
इतना ही नहीं, इन्होंने नाटक की सन्धियों और वृत्तियों को भी अलंकार की
सीमा में सिमेट लिया है, क्योंकि इन सभी उपकरणों के द्वारा काव्य की शोभा
में वृद्धि होती है । इन्होंने भामह के विरुद्ध एक नवीन मान्यता यह स्थापित की
है कि अलंकार का मूल वक्रोक्ति (वचन वैचित्र्य) नहीं, अपितु अतिशयोक्ति है ।
इस प्रकार दण्डी ने भी काव्य शरीर तक ही अपनी विचार दृष्टि रक्खी है
काव्यात्मा पर उनका ध्यान नहीं गया ।

वामन

यद्यपि आचार्य वामन शुद्ध अलंकारवादी नहीं माने जाते, क्योंकि इन्होंने

रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है और वे अलंकार को गुण का महत्व
या तत्व माने हैं । इनकी मान्यता है कि अलंकार की महायता से
ग्राह्य बनता है ।

"काव्य ग्राह्यमलंकारात् ।"

अन्य स्फुटिक :—अलंकार-सम्प्रदाय में आचार्य उद्भट भामह के
मायी माने जाते हैं । इन्होंने अधिक मौलिकता तो नहीं प्रदर्शित की
दृष्टान्त काव्यलिंग आदि कतिपय नवीन अलंकारों की स्थापना अवश्य
अलंकार शास्त्रियों में आचार्य रुद्रट का विशेष महत्व माना जाता है
रस को अलंकार की सीमा में परिबद्ध नहीं किया, अपितु उसे स्वतन्त्र
प्रदान की है । इनकी मुख्य देन यह है कि इन्होंने वास्तव, औपम्य,
और श्लेष आदि के आधार पर अलंकारों का सूक्ष्म वर्गीकरण प्र
है । यद्यपि इनके अनन्तर रुय्यक, जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि आ
ने अलंकार-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, किन्तु रस एवं ध्वनिवादी आ
समक्ष इनकी मान्यताएँ नहीं टिक सकीं ।

अलंकार के विषय में रसवादी आचार्यों की मान्यता

रसवादी आचार्यों ने अलंकार को अभिव्यक्ति की विशेष पद्धति
मान्यता दी है । वे अलंकार को साध्य नहीं, काव्य का साधन मानते हैं।
उचित स्थान एवं उचित कथय के लिये अलंकारों का प्रयोग शोभ
माना है । इनके मत से अलंकार शब्द और अर्थ के अनित्य धर्म हैं।
अलंकार न भी हो, तब भी काव्यत्व के अस्तित्व में बाधा नहीं पड़
काव्य का मुख्य विषय पाठक या श्रोता के हृदय में आनन्दानुभूति व
नव्य चेतना स्फुरण करना होता है, जो रस के द्वारा ही सम्भव है
मम्मट् ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है ।

काव्य में अलंकारों का स्थान और महत्व

अलंकार [illegible] है, चमत्कार उत्पन्न करते हैं किन्तु उनका उचित
[illegible] है, प्राय: [illegible]-सम्प्रदाय में सभी लोग सहमत हैं । यह सत्य है
[illegible] ही काव्य [illegible], जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

िभाषा देते हुये स्पष्ट किया है—

"भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप गुण और क्रिया का
र तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।
उक्त परिभाषा मे 'कभी-कभी' शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। इससे तो यह
होता है कि शुक्ल जी काव्य मे अलंकारो का महत्व बहुत कम स्वीकार
है। अलंकार-सम्प्रदाय मे इनका विशेष महत्व रहा है। भामह आदि
र्य काव्य मे अलंकारो का होना अनिवार्य मानते थे। अर्थात् वे अलंकार
कार्य को ही काव्य मानते थे। आधुनिक युग के सबल समीक्षक डा०
द्र जी कोरे उक्ति चमत्कार को काव्य नहीं मानते। यथा "वही चमत्कार-
युक्ति काव्य हो सकती है जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता,
रता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक
यो के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है या केवल कल्पना-विधान के आश्रित
काव्य पद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती।" इसमे आधुनिक विद्वानो
मत है कि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्व तो नहीं है, किन्तु वह इतना
शणीय भी नहीं है कि उसका अस्तित्व हार आदि आभूषणो की भांति केवल
ह्य हो। वास्तविक स्थिति यह है कि अलंकार न तो काव्य के अंतरंग तत्व
और न केवल बहिरंग। वे काव्य के अखण्ड सौन्दर्य मे सम्मिलित रहते हैं,
ोकिल नहीं, अत: उन्हे बाह्य कैसे कहा जा सकता है। यही कारण है कि
जराज ने अलंकारो को बाह्य, आभ्यतर, और बाह्याभ्यतर इन तीन वर्गों मे
भाजित किया है। जिस स्थल मे अलंकार भाव पक्ष और शैली पक्ष दोनो के
ौन्दर्य मे वृद्धि करते हैं, वहां उन्हे बहिरंग नहीं कहा जा सकता। कतिपय
थल तो ऐसे भी होते है जहां अलंकार भाव अथवा रस के साथ घुल-मिलकर
कार हो जाते हैं वहां उनकी आभ्यतर स्थिति माननी ही पडती है। यथा—

"रामहि चितो भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहि कथनीया॥"

ऐसे स्थलो मे अलंकार की आन्तरिक स्थिति मानी जा सकती है। इस
प्रकार अलंकार को काव्य के बाह्य एवं आभ्यान्तरिक दोनो पक्षो से सम्बद्ध
माना जा सकता है।

अलकार रति की भावाभिव्यक्ति की स्थिति में स्वत उत्पन्न हो
जैसा कि आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि "प्रतिभा के अनुग्रह से
स्वत निसृत हो उठते हैं।" जैसा कि प्रो० गवरन् ने "
अलकार शास्त्र" नामक पुस्तक में लिखा है—

"As emotion increases, expression swells and [illegible]
(FOAM) (FORTH)
foam fort"

अर्थात् "भावों की बाढ़ स्वत ही अलकार रूपियो उमड़ने लगती है
इस प्रकार रसादि के सहायक साधन ही हैं। सामान्यतया अल
शैली पक्ष में स्थान मिला है। पाश्चात्य विद्वान् पोप ने अलकारों को
माना है और अलकार्य के साथ उसका अभिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया
वस्तुत. अलकार और अलकार्य दोनों भिन्न हैं, किन्तु अलकार अलकार्य
ऐसा साधन है जो उससे अपना विशिष्ट सम्बन्ध रखता है। अलकार
कार्य काव्य में प्रेषणीयता लाना है, यह उक्ति चमत्कार द्वारा रसादि
अधिक स्पष्ट करता है और काव्य की श्री में वृद्धि करता है। उदाहरण
अनुप्रास आदि शब्दालकार अपने नाद सौन्दर्य से श्रोता को काव्य के
आकृष्ट करते हैं। इतना ध्यान अवश्य देना चाहिये कि अलकार का अना
बोझ कविता-कामिनी के लिए भार न बन जाय। ऐसी अस्वाभाविक
औचित्य का उल्लघन करने वाली होती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी अल
को शैली के अग के रूप में ही स्वीकार किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक माने जाते हैं। इनसे
'भामह' ने अपने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ में इसे लोक-व्यवहार से
वक्रोक्ति की सज्ञा दी है, और इसे सम्पूर्ण अलकारो का मूल माना है
अभाव में काव्य में सौन्दर्य-सत्ता आ ही नही सकती और न इसके बि
.र हो सकता है।

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्या कविना कार्य: कोऽलकारोऽनयाविना ॥ —काव्

भामह के पश्चात् दण्डी ने भी वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलंकारों का मूल स्वीकार किया। इस प्रकार कुन्तक के पूर्व 'वक्रोक्ति' की सीमा अलंकार तक सीमित रही। इन पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर कुन्तक ने स्वतन्त्र रूप से वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया।

"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्"

कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलंकार न मानकर उसके स्वरूप को और विस्तृत बनाया। उन्होंने "वैदग्ध्यभंगी भणिति" अर्थात् विदग्धतापूर्ण चमत्कारयुक्त कथन को वक्रोक्ति की संज्ञा प्रदान की। इसमें 'विदग्ध' शब्द का अर्थ 'प्रतिभा सम्पन्न कवि का काव्य कौशल' 'भंगी' का अर्थ 'चमत्कार' और 'भणिति' का अर्थ 'कथन शैली' है। इस प्रकार विस्तृत अर्थ यह निकला कि **ऐसी उक्ति वक्रोक्ति कहलाती है, जो शास्त्र एवं लोक व्यवहार के सामान्य अभिधा-प्रधान-रूप से भिन्न हो और प्रतिभाशाली कवि के कला-कौशल से निर्मित वैचित्र्यपूर्ण हो।** कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य-मर्मज्ञ व्यक्तियों को आह्लाद प्रदान करने वाली स्वीकार किया है। काव्यात्मा के रूप में किसी भी आचार्य ने आगे चलकर वक्रोक्ति को मान्यता नहीं प्रदान की। इसे अलंकार की श्रेणी में ही स्थान मिला है।

वक्रोक्ति का सामान्य अर्थ 'टेढ़ी उक्ति' है क्योंकि वक्र शब्द का सामान्य अर्थ 'टेढ़ी' और उक्ति का अर्थ 'कथन' है। कवि बाणभट्ट ने 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग वचन वैचित्र्य अर्थ में किया है।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति को ध्वनि-सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतिष्ठापित किया था। उन्होंने इसको व्यापकता प्रदान करते हुये मुख्य रूप में वक्रोक्ति के ६ भेद माने हैं।

१ **वर्णविन्यास-वक्रता**—अक्षरों का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, जो सहृदयों को आनन्द प्रदान करे। जैसे—अनुप्रास, यमक आदि

२ **पदपूर्वार्द्ध वक्रता**—इसके ९ भेद माने गये हैं। इसमें पद का पूर्वार्द्ध जो शब्द रूप अथवा धातु रूप हो, उसके विन्यास में वैचित्र्य होता है। जैसे 'परि-

सर्व प्रकार से विशिष्ट चमत्कारपूर्ण होता है ।

३ प्रत्यय वक्रता- जहाँ प्रत्ययों का वैचित्र्य-विन्यास हो, वहाँ प्रत्यय-वक्रोक्ति' मानी जाती है । इसके भी अनेक भेद किये गये हैं ।

४ वाक्य वक्रता-जहाँ पर वाक्यगत वैचित्र्य हो, वहाँ वाक्य वक्रता मानी जाती है । उपमा आदि समस्त अलंकारों में वाक्य वक्रता होती है। सहस्रों भेद हो सकते हैं ।

५ प्रकरण वक्रता—इसमें प्रसंग-विन्यास में विचित्रता उत्पन्न होती है । उदाहरणार्थ शाकुन्तल नाटक में कालिदास ने दुर्वासा-शाप का प्रदर्शन किया है । इससे कथावस्तु में एक वैचित्र्य उत्पन्न हो गया है ।

६. प्रबन्ध वक्रता-जहाँ पर कवि रचना में प्रबन्ध वैचित्र्य उत्पन्न कर है वहाँ पर प्रबन्ध वक्रता होती है । इसके ६ भेद माने गये हैं ।

१. मूल रस में परिवर्तन-जैसे रामायण में शान्त रस के स्थान पर द्वारा करुण रस का प्राधान्य प्रस्तुत किया जाना ।

२ इतिहास प्रसिद्ध कथा के ऐसे प्रसंग पर कथावस्तु की समाप्ति जहाँ नायक का चारित्रिक उत्कर्ष हो, यह भी प्रबन्धवक्रता का एक भेद

३ मध्य में विच्छिन्नता के कारण कथावस्तु की नीरसता को कम लिये औत्सुक्य वर्द्धक आकस्मिक-प्रसंग की सृष्टि करना ।

४ मुख्य फल में संलग्न नायक को अन्य गौण फलों की प्राप्ति होन

५. कथावस्तु के नामकरण की विचित्रता । उदाहरणार्थ-प्रिय शीर्षक से ग्रन्थ की कथावस्तु में वेदना का आभास होने लगता है । अ भी प्रबन्धवक्रता का एक भेद हुआ ।

६. उद्देश्य की विचित्रता भी इसी श्रेणी में आती है ।

इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को व्यापक-परिधि प्रदान की है, अन्तर्गत काव्य का भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही आ जाते हैं । र रस की उपेक्षा की है और कवि प्रतिभा की विशेषता मानकर 'व्यक्ति' विशिष्टता प्रदान की है, जिसका क्षेत्र केवल शैली विधान तक ही रहा है । अतः यह सिद्धान्त शरीरवादी सिद्धान्त के रूप में मान्यत

लता है ।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त अथवा रीति सिद्धान्त का विकसित
प्रतीत होता है । कुन्तक ने अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा शब्द और अर्थ के
कार से आगे बढ़कर प्रकरण और प्रबन्ध तत्त्व पर भी विचार किया है ।
प्रकार रीति सिद्धान्त में भाषा शैली तक ही विवेचन प्राप्त होता है ।
तु वक्रोक्ति में रचना विधान पर भी ध्यान दिया जाता है । वक्रोक्ति-सिद्धात
नि सिद्धान्त से कुछ भिन्न है, क्योंकि कुन्तक कथन प्रणाली को ही लक्ष्य में
ते हैं और ध्वनिवादी व्यंग्यार्थ में वर्ण्य अर्थ को प्रमुख मानकर लक्षणा
जना को सहायक सौन्दर्य-प्रसाधन मानकर चलते है । रस-सिद्धान्त के साथ
ोक्ति का सम्बन्ध है । अन्तर यह है कि कुन्तक ने रस भाव को अलंकार्य
ना है, किन्तु उसे काव्य शरीर के रूप में ही मान्यता दी है और काव्यात्मा
रूप में वक्रोक्ति को माना है । कुन्तक ने वक्रोक्ति के विश्लेषण में औचित्य
ो वक्रता का जीवन माना है । उचित कथन वक्रता का प्राण होने से औचित्य
क्रोक्ति का परम रहस्य है । सम्भवत औचित्यवादी क्षेमेन्द्र ने कुन्तक के इस
थन से ही इसे स्वतन्त्र-सम्प्रदाय बनाने की प्रेरणा प्राप्त की है ।

ीति-सम्प्रदाय

'रीति' शब्द का प्रचलन आचार्य 'वामन' के समय से प्रतीत होता है ।
नके पूर्व 'भामह' और 'दण्डी' ने 'वैदर्भी' और गौडी के लिये 'काव्य मार्ग' या
गिरामार्ग' शब्द का प्रयोग किया है । रीति शब्द के लिये '**वृत्ति**' शब्द का
योग होता रहा है । 'रीति' का सामान्य अर्थ है–गति, पथ, मार्ग, चलन
ादि । 'रीति' शब्द संस्कृत की 'रीङ्' गतौ, धातु से स्त्रीलिंग अर्थ के बोधक
क्तिन्' = ति, प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है । अत इसके अर्थ गति, पद्धति, शैली,
ार्ग, आदि हो सकते हैं । आचार्य वामन ने रीति की परिभाषा इस प्रकार
ी है— "विशिष्ट पद रचना रीति"

अर्थात विशेष पद-रचना को रीति कहते हैं । यह 'रीति' शब्द शैली के
अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसे अंग्रेजी में 'स्टाइल' 'STYLE' कहते हैं । विशिष्ट
पद रचना का आधार गुण माना गया है । वामन ने गुणों को काव्य शोभा

कारण बतलाया है और गुणों की सीमा अलंकार, रस, एवं शब्द-शक्ति
तक विस्तृत कर दी है। तात्पर्य यह कि वामन ने रीति के अन्तर्गत
समस्त उपादानों को ले लिया है।

वास्तविकता यह है कि वामन ने रस-भाव आदि को रीति के
तत्व मानकर बड़ी भूल की है। उन्होंने वैदर्भी, गौड़ी, और पांचाली, इन
रीतियों की स्थापना की है और इनमें भी 'वैदर्भी' को सर्वाधिक महत्व
किया है। इसकी भांति स्वतन्त्र रूप से रीति को अन्य किसी आचा
काव्यात्मा का स्थान नहीं दिया है। केवल शैली के रूप में सभी आचा
मान्यता दी है। रसवादी आचार्यों ने तो 'रीति' को रस की उपकारिक
भूता, पद संगठना मात्र कहा है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी रीति को
मानकर उसे गौण सिद्ध किया है। 'मम्मट' ने रीति को 'रसानुकूल व
मात्र माना है। इस प्रकार उनके मत से 'रीति' और 'वृत्ति' अभिन्न हैं।
आचार्य वामन से पूर्व भी रीति तत्व की चर्चा की गई है। भामह ने वै
रीति की श्रेष्ठता का खण्डन किया है। इसी प्रकार दण्डी ने विभिन्न कवियों
विभिन्न शैलियाँ मानकर 'गिरामार्ग' 'रीति' को अत्यन्त व्यापक माना
वामन ने प्रादेशिकता के आधार पर वैदर्भी, गौड़ी, और पांचाली, इन री
का प्रतिपादन किया है।

वैदर्भी

समस्त गुणों से गुम्फित दोषों से सर्वथा रहित और वीणा के स्व
समान मधुर वैदर्भी रीति कहलाती है। इसका सम्बन्ध मुख्यतया माधुर्य के
गुण से होता है। इसी को कोमलावृत्ति भी कहते है जैसे—

> अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि-पट-ज्योति।
> हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष छवि होति॥ —बि

गौड़ी

ओज और कान्ति गुणों से युक्त उद्भट-पदावली को गौड़ी-रीति कहते
इसका सम्बन्ध वीर रस, भयानक रस, रौद्र रस एवं वीभत्स रस से होता
'परुषावृत्ति' प्रधान होती है।

ध्वनि सम्प्रदाय

'ध्वनि' सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धनाचार्य माने जाते हैं। नि' शब्द का सामान्य अर्थ नाद या शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार —"ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि अथवा— ध्वननं ध्वनि प्रथम व्युत्पत्ति के ुसार ध्वनि और व्यंजना का बोध होता है क्योंकि इनके द्वारा ही ध्वनि उत्पन्न ती है और दूसरी व्युत्पत्ति के आधार पर रस अलंकार आदि वाच्यार्थ ित होते हैं क्योंकि यह सब ध्वनि हैं, ध्वनित होते हैं। ध्वनित होना ध्वनि का र्य है और ध्वनित करना इसकी शक्ति है। यह ध्वनि व्यंजना पर आधारित है।

ध्वनि की परिभाषा

जहाँ अर्थ या शब्द अपने अभिधाप्रधान अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को

ध्वनित करता है उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वान् लोग ध्वनि क

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ —आनन्द

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कहा है कि महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ के
प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है, जो प्रसिद्ध अलंकारों अथवा प्रती
वाले अन्य गुण आदि तत्वों से भिन्न, सुन्दरियों के लावण्य के समान प्र
होता है । जिस प्रकार सुन्दरियों का सौन्दर्य समस्त अंगों से पृथक् दिखाई
है, और सहृदय नेत्रों के लिए अमृत तुल्य कुछ और ही होता है । इसी
वह प्रतीयमान अर्थ कुछ अन्य ही होता है । ध्वनि-सिद्धान्त इतना व्या
कि जहाँ काव्य में अलंकार आदि नहीं होते, वहाँ भी प्रतीयमान-अर्थ की
रचना से युक्त काव्य होता है । काव्य में रस, भाव आदि अर्थ ध्वनित है

ध्वनि सम्प्रदाय के पूर्व रस, अलंकार और रीति सिद्धान्त प्रचलित
थे, किन्तु ९ वीं शताब्दी में आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि की मान्यता
की । इसके लिये उन्होंने व्यंजनावृत्ति का आश्रय लिया । इनके पश्चात्
गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीका लिख कर ध्वनि-सिद्
धारणाओं को पुष्ट किया । यह ध्वनि-सिद्धान्त इतना व्यापक हुआ
वस्तु-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और रस-ध्वनि की मान्यता स्थिर कर रस
आत्मसात कर लिया । इस प्रकार ध्वनि का रस के साथ अविभाज्य
स्थापित हो गया । आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि एव रस-सिद्धान्त को
दी है । आचार्य विश्वनाथ ने रस व्यंजना के रूप में ध्वनि का महत्व
पं० राज जगन्नाथ ने रस और ध्वनि में समन्वय स्थापित किया है इ
हिन्दी के अधिकाश आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के साथ ही साथ ध्व
मान्यता दी है ।

वास्तव में यदि देखा जाय तो ध्वनि-सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त का
है । इसके अनुसार व्यंग्यार्थ-प्रधान ध्वनि-काव्य 'उत्तम-काव्य' माना
काव्य में व्यंग्यार्थ गौण होता है वह मध्यम श्रेणी का और जिसमे
होता है वह अधम काव्य कहलाता है ।

ध्वनि के भेद—ध्वनि के भेदों-उपभेदों का विवरण निम्नलिखित तालिका
प्ट है।

- कवि-अभिप्रेत काव्यार्थ ध्वनि
  - रस ध्वनि
  - अलंकार ध्वनि
  - वस्तु ध्वनि
- अभिव्यंजनागत ध्वनि
  - शाब्दी
    - अभिधा मूलक
    - लक्षणा मूलक
  - आर्थी
    - अभिधा मूलक
      - संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि
      - असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि
    - लक्षणा मूलक

- रस
- रसाभास
- भाव
- भावाभास
- भावोदय
- भावशान्ति
- भावसंधि
- भावशबलता
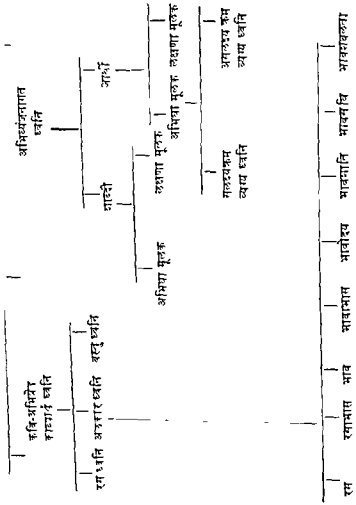
निष्कर्ष यह है कि ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त की भाँति ही क
समान सिद्ध हुआ है । रस-ध्वनि को श्रेष्ठ मानकर एक प्रकार से
रस की सत्ता स्वीकार की है । रसवादी भी रस को प्रधान मानते हैं।
मूल में व्यंजना-शक्ति कार्य करती है और वही व्यंजना-शक्ति ध्वनि
भी मान्य है । इस प्रकार दोनों सिद्धान्त समन्वय में प्रतीत होते हैं।
प्रतिहारेन्दुराज और भोज आचार्यों ने ध्वनि का खण्डन किया है। कि
इस ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और अधिक बढ़ी है। कुन्तक ने
वक्रोक्ति की सीमा में समाविष्ट कर लिया । महिमभट्ट ने व्यंजना-शक्ति
शून्य कर दी और ध्वनि के प्रतीयमान अर्थ को अनुमानगम्य माना, प
ये मान्यताएँ स्वीकृत नहीं की गयीं । इस प्रकार ध्वनि काव्यात्मा
प्रतिष्ठित हुई किन्तु वास्तव में ध्वनिवादी आचार्यों ने श्रेष्ठतम ध्वनि
को ही माना है, अतः 'काव्यात्मा' पद ध्वनि को न देकर रस को देना
न्याय-संगत प्रतीत होता है ।

रस-सम्प्रदाय

रस और काव्य

'काव्यानन्द' को 'ब्रह्मानन्द-स्वाद-सहोदर' माना गया है । दोनों
इतना ही है कि ब्रह्मानन्द शाश्वत, नित्य और स्थायी है, किन्तु काव्या
स्थायी और अनित्य है । यह अन्तर रहने पर भी की प्रवृत्ति एक सी
जिस प्रकार निर्विकल्पक समाधि में परात्पर ब्रह्म का ध्यान करते हु
परमानन्द का अनुभव करता है और उक्त स्थिति में संसार के मा
पूर्णतः विरक्त हो जाता है, उसी प्रकार काव्यानन्द प्राप्त होने पर
श्रोता संसार से पूर्णविरक्ति को प्राप्त होता है । भारतीय आचार्यों
काव्यानन्द को पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' की संज्ञा दी है। काव्य
चिन्तन एवं सौंदर्यान्वेषण के क्षेत्र में भारतीय मनीषी का परम अवदा
तत्त्व' की उपलब्धि है ।

रस शब्द की व्युत्पत्ति

संस्कृत में 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति "रस्यतेऽसौ इति रस" इस
ई है । अर्थात् जिससे आस्वाद मिले वही रस है । 'रस' शब्द का प्र

अर्थात् 'विभाव' 'अनुभाव' एवं व्यभिचारीभाव का संयोग होने पर की 'निष्पत्ति' होती है इसे और स्पष्ट करने के पूर्व भाव, विभाव अनु एवं (संचारी) व्यभिचारीभाव के स्वरूप से परिचित हो लेना आवश्य कारण यही रस-तत्व हैं।

स्थायी भाव—सहृदयों के हृदय में वासना-रूप में स्थित शाश्वत विकार साहित्य में 'स्थायीभाव' कहलाता है। इसका विश्लेषण करते आचार्य भरतमुनि ने कहा—"वागङ्गसत्वोपेतान् भावयन्तीति भावाः" "(अनुभावों के)वाचिक एवं सात्विक प्रदर्शन द्वारा जो नाटक के विभावित करते हैं, वे भाव कहे जाते हैं।" आचार्य विश्वनाथ का वडा ही महत्वपूर्ण है, कारण इसमें स्पष्ट रूप में बताया गया है कि या विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, आस्वाद का मूलभूत वह भाव ही है। उन्होंने बताया कि स्थायी भाव नौ है—अर्थात् रति, हास, शो उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय एवं शम ये नौ स्थायीभाव हैं।

प्रियवस्तु में या मनोनुकूल अर्थ में मन के प्रेमपूर्ण उन्मुखी भाव का 'रति' है। वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना कहलाता है। इष्टनाशादि के कारण चित्त की विकलता को शोक कहते प्रतिकूल या शत्रुओं के विषय में तीव्रता से उद्बोध का नाम 'क्रोध' है। करने में स्थिरतर तथा उत्कृष्ट आवेश या संरम्भ को 'उत्साह' कहते हैं। भयानक वस्तु की भयकरता से उत्पन्न चित्त को व्याकुल करने वाला भाव कहलाता है। लोक-सीमा से अतिक्रान्त अलौकिक सामर्थ्य वाली किसी व दर्शन आदि से उत्पन्न चित् के विस्तार को 'विस्मय' कहते हैं। निस्पृह अवस्था में आत्मा या अन्तःकरण के विश्राम से उत्पन्न हुआ सुख का नाम है। शिशु या बालक की मनोहर चेष्टाओं से उत्पन्न होने वाले सहज अनुराग का नाम 'वत्सलता' है। इस प्रकार साहित्य शास्त्रियों ने स्थायीभावों की है।

...ओं के हृदय में संस्कार रूप में स्थिति 'रति' आदि स्थायी भावों

पर काव्य को विभाव कहते है। ("विशेषेण भावयन्तीति विभावा.)" शुक्ल ने विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है "विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओ विषयो के वर्णन से है, जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या सवेदना होती है।"
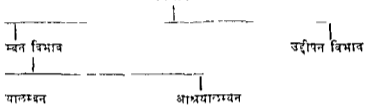
आलम्बन विभाव वे हैं जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव प्रन होते है—जैसे नायक नायिका । यह आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं । १-विषयालम्बन--जहाँ नायक आदि से रस की प्रतीति होती है रामादि २-आश्रयालम्बन-जहाँ नायक आदि आश्रय के द्वारा रस की प्रतीति होती है ।

उद्दीपन-विभाव वे कहलाते है, जिन वस्तुओ या स्थिति को देखकर रति आदि 'स्थायी-भाव' तीव्रतर या उद्दीप्त होने लगते है । जैसे चन्द्रोदय, कोकिल, एकान्त स्थल आदि । प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट-उद्दीपन होते है । भावोद्दीपन निम्नलिखित कारण होते है —आलम्बन के गुण, चेष्टाएँ, अलकार, तटस्थ मे वसन्त उद्यान आदि ।

अनुभाव

आलम्बन-उद्दीपन आदि कारणो से उत्पन्न काव्य-नाटक के अन्तर्गत विभिन्न भावो को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य अनुभाव है । भावो की सूचना देने के कारण ये भावो के 'अनु' अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती एव कार्य रूप माने जाते है । इनकी सख्या निश्चित नहीं है परन्तु इनको वर्गो मे बाँटने का प्रयास किया गया है । १-कायिक २-वाचिक ३-मानसिक ४-आहार्य ५-सात्विक अनुभाव

शरीर की वे प्रतिक्रियाएँ जो अन्त करण मे स्थित भावो की सूचना देती

है 'वाचिक' अनुभाव कहलाते हैं। मनोनुकूल जो आंगिक कार्य हो [illegible] है 'आंगिक' अनुभाव कहलाते हैं। [illegible] की भावना के अनुरूप [illegible] [illegible] अनुभव करते हैं [illegible] भावना के अनुरूप कृत्रिम वेशभूषा की रचना का विचार 'आहार्य' कहलाता है।

सात्त्विक अनुभावों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सात्त्विक [illegible] अनुसार सत्त्व अन्तःकरण अर्थात् 'रस' को प्रकाशित करने [illegible] धर्म है, इसमें सम्बन्ध रखने के कारण ही ये सात्त्विक अनुभाव कहे जाते हैं। [illegible] में ये आठ हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्र[illegible]

संचारीभाव

संचारीभाव को 'व्यभिचारीभाव' भी कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इन[illegible] विश्लेषण करते हुए कहा है कि विशेष रूप से मुख्य रस हेतु स्थायीभाव[illegible] ओर संचरण करने के कारण ये संचारीभाव या व्यभिचारीभाव कहे जाते[illegible] ये स्थिरता से विद्यमान स्थायीभावों से उन्मग्न आविर्भूत होते हैं। ये स[illegible] में ३३ हैं। उत्पन्न हुए स्थायी भाव को जो अधिक पुष्ट करते हैं उन स[illegible] रियों को व्यभिचारी भाव कहते हैं।' इनकी संख्या ३३ मानी जाती है।[illegible] काल में 'देव' ने ३४ तक यह संख्या मानी है।

रस का स्वरूप

कुछ विद्वानों ने कहा कि रस मनोवेग है, परन्तु कुछ विद्वानों ने कहा कि रस मनोवेग नहीं है। किसी वस्तु का आस्वादन करने पर जो आनन्द मि[illegible] है उसे रस कहते हैं। साधारण भाषा में कहते हैं कि अमुक की कथा में ब[illegible] रस आया' वे बड़े रसिक हैं।'' 'रसिया' शब्द का अर्थ है जिसके आस्वाद[illegible] आनन्द आवे। आनन्द लेने वाले को भी 'रसिया' कहते हैं। संक्षेप में आन[illegible] दनजन्य आनन्द को रस कहते हैं। रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आच[illegible] विश्वनाथ ने कहा—

> विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिणा तथा।
> रसतामेति रत्यादि, स्थायिभाव सचेतनाम्॥

अर्थात्'' विभाव, अनुभाव एवं संचारिभावों के संयोग से व्यक्त होकर स[illegible]

य के हृदय में स्थित 'रति' आदि स्थायी भाव ही 'रसत्व' प्राप्त कर लेते हैं
तत्व' के उद्रेक के कारण यह रस अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश-स्वरूप, आन-
न्दमय एवं चिन्मय होता है। इस रस के साक्षात्कार के समय दूसरे ज्ञातव्य
विषयों का स्पर्श तक नहीं होता और इसीलिए यह ब्रह्मानन्द (ब्रह्म के साक्षात्-
कार से मिलने वाले आनन्द) के समान होता है। इस रस का एक 'प्राण'
एक ऐसा अलौकिक चमत्कार होता है, जिसकी उपलब्धि कुछ सहृदय व्यक्तियों
को ही हो सकती है। इस 'रस' के आस्वादन के समय रस भोक्ता का इसमें
पृथक् व्यक्तित्व नहीं रह पाता।"

रस सम्प्रदाय के आचार्य

संस्कृत के रसवादी आचार्यों में आचार्यभरत (वि० पू० २००), अभिनव-गुप्त (११ वीं शतक), विश्वनाथ (१४ वीं शतक) तथा पंडित राज जगन्नाथ (१७ वीं शतक) के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी-साहित्य में रसवादी आचार्यों की संख्या पृथुल है। चिन्तामणि (१६४३ई०) कुलपति (१७६०) देव (१७ वीं शतक) श्रीपति (१८वीं शतक) भिखारीदास (१८ वीं शतक) भारतेन्दु (१९ वीं शतक), मिश्रबन्धु (१९ वीं शतक), कन्हैयालाल पोद्दार (१९ वीं शतक), रामचन्द्र शुक्ल (२० वीं शतक) जयशंकर प्रसाद (२० वीं शतक) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (२० वीं शतक) और डा० नगेन्द्र (२०वीं शतक) हिन्दी के प्रमुख रसवादी आचार्य माने जाते हैं।

उपर्युक्त आचार्यों ने संस्कृत के आचार्यों की मान्यता को दृष्टिपथ में रखकर अपने-अपने ग्रन्थों में रस की मान्यता स्थापित की है। इस समय डा० नगेन्द्र ने 'रससिद्धान्त' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रस्तुत किया है, जिसमें रस का अत्यन्त सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी पाठक यह निःसंकोच होकर कह सकता है कि डा० नगेन्द्र ने रस के क्षेत्र में संस्कृत के आचार्यों की मान्यताओं का ही विश्लेषण नहीं किया अपितु इस क्षेत्र में उनकी मौलिक देन भी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हुई है। इससे पूर्व रस के विषय में किसी भी संस्कृत अथवा हिन्दी के आचार्य ने इतना सूक्ष्म विवे-चन नहीं किया।

रस-निष्पत्ति

'नाट्यशास्त्र' के रचयिता ख्यातनामा भरतमुनि रस-सिद्धान्त के मूल तक माने गए हैं । उनका ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अद्वितीय है, किन्तु उन्होंने रस सम्बन्ध में जो बताया है वह अस्पष्ट है । उनके वास्तविक आकार के सम्बन्ध मन चाही कल्पना की जा सकती है । भरतमुनि का मूल-सूत्र इस प्रकार है

"विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।"

अर्थात् विभाव (नायक-नायिका आदि) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्पादि) सूचक शारीरिक विकार व्यभिचारी भाव 'हर्ष, मद, उत्कण्ठा आदि) के संयोग से रस की प्राप्ति होती है । इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द विवाद विषय रहे हैं । यह सूत्र आचार्यों के 'मस्तिष्क के लिए व्यायाम शाला गया है । इसकी व्याख्या करने वालों में चार आचार्य प्रमुख हैं । उनके इस प्रकार हैं :—

१—भट्टलोल्लट–उत्पत्तिवाद
२—श्री शङ्कुक–अनुमितिवाद
३—भट्टनायक–भुक्तिवाद
४—अभिनवगुप्त–अभिव्यंजनावाद या अभिव्यक्तिवाद

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

इस सूत्र के प्रथम व्याख्याता हैं, भट्टलोल्लट । यह मीमांसा सिद्धान्त मानने वाले थे । उनका मत है कि स्थायीभाव नायिकादि विभावों द्वारा उत्पन्न होकर तथा उद्यान, चन्द्र ज्योत्स्नादि उद्दीपनों द्वारा उद्दीप्त होकर कटाक्ष भ्रू क्षेप अश्रु रोमांचादि अनुभावों अर्थात् बाह्य व्यंजकों द्वारा प्रतीतियोग्य अर्थात् जानने योग्य बनकर और उत्कण्ठादि व्यभिचारियों द्वारा पुष्ट होकर दुष्यन्त ादि अनुकार्यों में रस रूप से विद्यमान रहता है । इस मत में निम्नलिखित ाएँ पायी जाती हैं—

स्थायीभाव का सूत्र में उल्लेख नहीं है, किन्तु इस मत में उसका रूप में पृथक् उल्लेख हुआ है और स्थायीभाव के साथ संयोग मान ।

२–यह स्थायीभाव आलम्बन विभावों से उत्पन्न होता है (इसी से इसको

त्तिवाद कहते हैं। एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुभावों द्वारा क्त होकर अनुकार्य में रस रूप में रहता है। निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' है।

३—नट में यह रहता नहीं है, वरन् रूप की समानता के कारण उसमें रोप होता है, इसीलिए उसको आरोपवाद भी कहते हैं।

४—अभिनय की कुशलता से आरोपित स्थायीभाव सामाजिकों के चमत्कार कारण बन जाता है।

भट्टलोल्लट के अनुसार रस भी मूल रूप में रामादि अनुकार्यों में उत्पाद्य उत्पादक तथा कार्यकारण भाव से उत्पन्न होता है। नट की अनुकृति की सफलता से उत्पन्न सामाजिक के मन में चमत्कार जन्य आनन्द रस बन जाता है।

सिद्धान्त की समीक्षा

१—भट्टलोल्लट ने रस के लौकिक विषयगत पक्ष को महत्ता प्रदान की। विभावन के लिए भी कुछ सामग्री अपेक्षित होती है। लोल्लट ने उसकी ओर संकेत किया है। लोल्लट की व्याख्या में एक शास्त्रीय दोष तो यह निकाला गया कि स्थायीभाव का उल्लेख भरत के सूत्र में नहीं है। उन्होंने स्थायीभाव को रस से पृथक् नहीं माना है। इसीलिए उन्होंने अपने सूत्र में उल्लेख नहीं किया है। यह ऐसी वस्तु भी नहीं है जो पहले अपुष्ट रूप में रहती हो और पीछे से पुष्ट होकर रस का रूप धारण करे। विभावादि के बिना मूल आधार में स्थायी रूप हो ही नहीं सकता फिर उनसे उसकी पुष्टि कैसी ?

२—इस मत में रस की स्थिति को मुख्य रूप से अनुकार्य और गौण रूप से अनुकर्तागत कहा गया है सामाजिक तटस्थ रह जाता है अतः यह मत सर्वथा दोषपूर्ण है।

३—विभावादि और स्थायीभाव में उत्पादक उत्पाद्य सम्बन्ध मान लेने पर उत्पादक सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता पर उत्पाद्य सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता निर्भर रहेगी, किन्तु रस अखण्ड वस्तु है उसे हम न तो न्यून कह सकते और न प्रचुर।

४—एक बात और है यदि भाव की उद्दामावस्था को रस दशा [illegible]

'नाट्यशास्त्र' के रचयिता आचार्य भरतमुनि रस सिद्धान्त के
[illegible] माने गए है। उनका [illegible] में अप्राप्य है, किन्तु उन्
सम्बन्ध में जो बताया है वह अस्पष्ट है। उनके वास्तविक आधार [illegible]
मन [illegible] [illegible] किया जा सकता है। भरतमुनि का मूल-सूत्र इस प्र

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव (नायक-नायिका आदि) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्प
पृथक शारीरिक विकार) व्यभिचारी भाव (हर्ष, मद, उत्कण्ठा आदि) के
से रस की प्राप्ति होती है। इसमें 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द वि
विषय रहे हैं। यह सूत्र आचार्यों के 'मस्तिष्क के लिए व्यायाम [illegible]
गया है। इसकी व्याख्या करने वालों में चार आचार्य प्रमुख हैं। उनके
इस प्रकार है —

१— भट्टलोल्लट-उत्पत्तिवाद
२— श्री शङ्कुक-अनुमितिवाद
३— भट्टनायक-भुक्तिवाद
४— अभिनवगुप्त-अभिव्यंजनावाद या अभिव्यक्तिवाद

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

इस सूत्र के प्रथम व्याख्याता हैं, भट्टलोल्लट। यह मीमांसा सिद्धान्त
मानने वाले थे। उनका मत है कि स्थायीभाव नायिकादि विभावो द्वारा उ
होकर तथा उद्यान, चन्द्र ज्योत्स्नादि उद्दीपनों द्वारा उद्दीप्त होकर कटाक्ष
क्षेप अश्रु रोमाचादि अनुभावो अर्थात् वाह्य व्यजको द्वारा प्रतीतियोग्य ब
जानने योग्य बनकर और उत्कण्ठादि व्यभिचारियो द्वारा पुष्ट होकर मु
रामादि अनुकार्यों मे रस रूप से विद्यमान रहता है। इस मत मे निम्नलिखित
विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१— स्थायीभाव का सूत्र मे उल्लेख नही है, किन्तु इस मत मे उसका उ
के मूल रूप मे पृथक् उल्लेख हुआ है और स्थायीभाव के साथ सयोग मा
गया है।

२—यह स्थायीभाव आलम्बन विभावो से उत्पन्न होता है (इसी से इसे

त्तिवाद कहते हैं। एव व्यभिचारी भावो से पुष्ट होकर अनुभावो द्वारा न होकर अनुकार्य मे रस रूप मे रहता है। निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' है।

३–नट मे यह रहता नही है, वरन् रूप की समानता के कारण उसमे रोप होता है, इसीलिए उसको आरोपवाद भी कहते है।

४–*अभिनय की कुशलता से आरोपित स्थायीभाव सामाजिको के चमत्कार* कारण बन जाता है।

भट्टलोल्लट के अनुसार रस की मूल रूप से रामादि अनुकार्यों मे उत्पा-त्पादक तथा कार्यकारण भाव मे उत्पत्ति होती है। नट की अनुकृति की सफ-ता से उत्पन्न सामाजिक के मन मे चमत्कार जन्य आनन्द रस बन जाता हैं।

सिद्धान्त की समीक्षा

१–भट्टलोल्लट ने रस के लौकिक विषयगत पक्ष को महत्ता प्रदान की। वेभावन के लिए भी कुछ सामग्री अपेक्षित होती है। लोल्लट ने उसकी ओर सकेत किया है। लोल्लट की व्याख्या मे एक शास्त्रीय दोष तो यह निकाला गया कि स्थायीभाव का उल्लेख भरत के सूत्र मे नही है। उन्होने स्थायीभाव को रस से पृथक् नही माना है। इसीलिए उन्होने अपने सूत्र मे उल्लेख नही किया है। यह ऐसी वस्तु भी नही है, जो पहले अपुष्ट रूप मे रहती हो और पीछे मे पुष्ट होकर रस का रूप धारण करे। विभावादि के बिना मूल आश्रय मे स्थायी रूप हो ही नही सकता फिर उनमे उसकी पुष्टि कैसी ?

२–इस मत मे रस की स्थिति को मुख्य रूप से अनुकार्य और गौण रूप मे अनुकर्तागत कहा गया है सामाजिक तटस्थ रह जाता है, अत यह मत सर्वथा दोषपूर्ण है।

३–विभावादि और स्थायीभाव के उत्पादक उत्पाद्य सम्बन्ध मान लेने पर उत्पादक सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता पर उत्पाद्य सामग्री की न्यूनता या प्रचुरता निर्भर रहेगी, किन्तु रस अखण्ड वस्तु है उसे हम न तो न्यून कह सकते और न प्रचुर।

४–एक तर्क और है, यदि भाव की उद्दीप्तावस्था को रस-दशा मानें तो

फिर शोकादि की उद्दीप्तावस्था करुणा जनक होगी, रस रूप नहीं।

५–एक तर्क यह भी है कि उत्पादक, उत्पाद्य सम्बन्ध मानने पर रस के प्रसग मे शोक स्थायी मे आनन्द रूप करुण-रस की उत्पत्ति कैसे करेंगे, क्योंकि कार्य तो कारण के अनुकूल ही होता है। जिस प्रकार वीज रूप कारण मे चने का पौधा रूप कार्य उत्पन्न नहीं होगा।

श्रीशंकुक का अनुमितिवाद

इन आपत्तियों से बचने के लिए श्रीशकुक ने अपना 'अनुमितिवाद' दिया। वे नैयायिक थे। उन्होंने रस की आपत्ति गम्यगमक-भाव से मानी है। नट नाटकादि मे रामादि अनुकार्यों के भावों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी और अभिनय के अभ्यास द्वारा रगमच पर कारण (विभाव) कार्य (अनुभाव) चारी (सचारीभाव) को अपनी कला मे प्रदर्शित करता है तब वे [... अनुभाव] कृत्रिम होते हुए भी ऐसे नही माने जाते। अर्थात् नट को राम विभाव कहते हैं और उसके भुज अश्रु आदि अनुभावों को राम के ही कहते हैं।

इन्होंने 'सयोग' का अर्थ 'अनुमापक' या 'गमक-अनुमाप्य' या गम्य किया है। इनके अनुसार गम्य या अनुमाप्य रस के प्रसग मे विभावादि उसी प्रकार गमक या अनुभावक है, जिस प्रकार गम्य या अनुमाप्य अग्नि प्रसग मे धुआँ अनुमापक या गमक होता है। श्रीशकुक ने अपनी समस्या सुलझाने के लिए 'चित्रतुरगादि' न्याय के सिद्धान्त की कल्पना की। उन्होंने कहा—काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सहृदय-भूत-दर्शक तुरगादि न्याय से। अर्थात् ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बच्चा चित्र में हुए घोड़े को ही सच्चा घोडा समझ लेता है। रामादि-रूप विभाव वास्तविक-वास्तविक रूप मे न होने पर भी नट को ही रामादि मान अनुमान कर बैठता है। इस प्रकार हम देखते है कि शकुक के रस [...]का अर्थ अनुमापक, अनुमाप्य, सम्बधात् और निष्पत्ति का [...]ति लिया गया है।

ा

प मत के अनुसार वास्तविक रूप से अनुकार्यों (दुष्यन्त शकुन्तला) को
ाव कह सकते हैं। उनके ही अनुभावों और सचारियों को अनुभाव और
ा कहेंगे।

ट' इनका अनुकरण करता है सामाजिक लोग चित्रतुरगन्याय से नट
ुकार्य समझ लेने और उसके अनुभावादि से उसमें स्थायी भाव का अनु-
करते हैं।

द्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है, परन्तु इस मत के अनुसार
ा चित्रतुरगन्याय से दुष्यन्त से तादात्म्य कर उसके अनुभावादि द्वारा
गमक वा अनुमाप्य-अनुमापक-भाव से सामाजिक रस की अनुमिति
हैं।

की समीक्षा

शकुक ने दो बातो पर अधिक जोर दिया एक 'अनुकरण' दूसरा 'अनुमान
वन करने पर शकुक की दोनो ही आधार-शिलाएँ बालुका-निर्मित प्रतीत
लगती है—

१–विभावादि जो प्रत्यक्ष नही होते है, उनमे रस की निष्पत्ति कैसे सिद्ध
जाय ?

२–बहुत से आलम्बनादि ऐसे होते हैं, जिनके प्रति हमारी भावना सदैव
त्र होती है, जैसे राम-सीता इनकी रति-भावना आदि से कैसे तादात्म्य का
भव करे।

३–करुण, जिसका स्थायीभाव 'शोक' है वह रस कैसे हो सकता है।

शकुक का यह मत केवल प्रथम समस्या का थोड़ा सा समाधान प्रस्तुत
ता है, वह भी चित्रतुरगादिन्याय पर आधारित होने के कारण। इस
द्धान्त मे सब कुछ कल्पित और कृत्रिम है। उनका 'रस' अनुमिति का विषय
ने के कारण कल्पित है। उसके अनुमापक विभावादि भी चित्रतुरगादिवत्
ने के कारण मिथ्या है। अत कृत्रिम और कल्पित वस्तु रसास्वादन का विषय
से हो सकती है ?

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक का कथन है कि रस की न तो प्रतीति (अनुमिति) (जैसा कि शंकुक ने माना है) न उत्पत्ति होती है (जैसा भट्टलोल्लट ने माना है।)अनुभव और स्मृति के बिना रस की प्रतीति नहीं हो सकती।

भट्टनायक की विशेषता यही है कि उन्होंने सामाजिक के का विभावों में आनन्द लेने की समस्या को हल करने के लिए 'अभिधा' भा और 'भोजकत्व' तीन व्यापार माने है। भावकत्व द्वारा अपने और प भेद को दूर करके उसके भोग की समस्या को हल किया है।

इस मत के अनुसार काव्य नाटक के विभावादि अभिधा द्वारा बो होते हैं, उसके पश्चात् विभावादि भावकत्व द्वारा मेरे-पराये के बन्धनों से होकर अर्थात् ,साधारणीकृत होकर सहृदय के उपभोग योग्य बनते हैं। निष्पत्ति का अर्थ विभावादि की भोज्य-भोजक-भाव से मुक्ति है।

अर्थात भावकत्व का अर्थ है 'साधारणीकरण' इस भावकत्व या साध करण व्यापार से विभावादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण हो है। साधारणीकरण का अर्थ है सीतादि का साधारण कामिनी रूप में रह जाना। स्थायी भाव के रजोगुण और तमोगुण का परिहार हो ज और स्थायीभाव केवल सत्वोद्रेक मात्र रह जाता है। यह सत्वोद्रेक ही रस लाता है। भोग व्यापार में इसी का भोग होता है। इस प्रकार भट्टनाय अनुसार साधारणीकरण प्रक्रिया की सारिणियाँ इस प्रकार हुईं—

१–'अभिधा' से काव्यार्थ का बोध।

२–'भावकत्व' व्यापार से पहले विभावादि का साधारणीकरण होना, उसका व्यक्तिगत सम्बन्धों से विच्छिन्न होना।

३–काव्यस्थ 'स्थायी-भाव' का साधारणीकरण तथा सतोगुण का उद्रेक

इसमें सन्देह नहीं कि साधारणीकरण के सिद्धान्त की कल्पना से उन समस्याओं का बहुत कुछ समाधान हुआ, किन्तु दर्शक की समस्या फि दोष रह गई। इसको सुलझाने का प्रयास आचार्य अभिनवगुप्त ने कि 'साधारणीकरण' इस मत की मुख्य देन है। इस मत में यह दोष है कि कत्व' और 'भोजकत्व' इन दो शक्तियों की

अशास्त्रीय है।

नवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त के अनुकूल रति आदि स्थायीभाव सहृदय सामाजिकों के अन्त.
। मे वासना या संस्कार रूप में अव्यक्त-दशा में वर्तमान रहते हैं ।

१—अभिनवगुप्त रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते है ।

२—सामाजिकों में स्थायी भाव वासना या संस्कार रूप में स्थिर रहते हैं ।

३—वे साधारणीकृत विभावादि द्वारा उद्भूत हो जाते हैं । ये विभावादि के
ग के कारण अव्यक्त रूप में अभिव्यक्त हो जाते है,करीब-करीब उसी तरह जिस
ह कि जल के छींटे पड़ने से मिट्टी की अव्यक्त गन्ध व्यक्त हो जाती है ।

४—काव्यादि का पाठ और नाटकों के अभिनय सहृदयों के स्थायी भावों
जाग्रति के साधन होते हैं । पाठकों और दर्शकों को अपने ही उद्बुद्ध स्थायी
वों का शुद्ध रूप में तन्मयता के कारण चित्त की वृत्तियों के एकाग्र हो जाने
ब्रह्मानन्द-सहोदर अखण्ड रस के रूप में आनन्द प्राप्त होने लगता है ।

५—अभिनवगुप्त के मत में संयोग का अर्थ व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव है और
ष्पत्ति का अर्थ है 'अभिव्यक्ति' इस मत के अनुसार सामाजिकों के हृदय में
सना रूप में स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यंग्य-व्यंजक भाव से अभिव्यक्त
जाते है ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार कि मिट्टी की अव्यक्त गंध जल के
टे पड़ने से व्यक्त हो जाती है । यह मत मनोविज्ञान की धारणा के सर्वथा
नुकूल है ।

अन्य मत

धनंजय का मत

अभिनवगुप्त के मत को उनके अनुवर्ती आचार्यों में से अधिकांश ने माना है ।
नंजय का मत एक प्रकार से उनके ही मत का स्पष्टीकरण है ।

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायीभावो रस स्मृत ॥ —दशरूपक

अर्थात् स्थायी भाव, विभाव, सात्विक और व्यभिचारी-भावों द्वारा आस्वाद्य
होकर रस बन जाता है । धनजय का अ ... केवल इतना ही
अन्तर है कि धनजय ने व्यजना को नहीं ... चलाया है

और अभिनवगुप्त ने व्यंजना को मुख्यता दी है।

रसगंगाधर में इन मतों के अतिरिक्त कई और मतों का गया है उनमें से एक जो रज्जु के सांप की भांति मिथ्या मानने वेदान्त से सम्बन्ध रखता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रस की शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) की भ्रान्त-अनुभूति के आधार पर अन्य मत विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

समन्वय एवं निष्कर्ष

भट्टलोल्लट और श्री शंकुक दोनों ही अनुकार्यों को विशेष प्रदान करते हैं। ये लोग रस की लौकिक विषयगत स्थिति को लाते हैं और साधारणीकरण के लिए जो लौकिक आधार चाहिए उस संकेत करते हैं। भट्टलोल्लट के मतानुसार नट में दुष्यन्तादि का आरोप किया जाता है और श्रीशंकुक के अनुसार उसमें अनुमान किया है। आरोप निराधार भी हो सकता है किन्तु अनुमान में किंचित आधार है। इन दोनों की देन इतनी ही है कि ये लोग कल्पना को नितान्त नि होने से बचाए रखते हैं। वे आजकल के उपन्यासों के कल्पित पात्रों को म कुछ कठिनाई ही से कर सके हैं। कल्पना का जो वास्तविक आधार है उसकी ओर ये संकेत अवश्य कर देते हैं।

यद्यपि साधारणीकरण की मूल भावना की क्षीण झलक नट के अनुक (नट दुष्यन्त का साधारण राजारूप में अनुकरण करता है दुष्यन्त को वे जानता नहीं) रहती है तथापि इस सिद्धान्त को पूर्ण विकास देने का श्रे भट्टनायक को है। भोजकत्व में सामाजिक के कर्तव्य की ओर संकेत है और उसके रस के मूल अर्थ 'आस्वादकत्व' की भी सार्थकता हो जाती किन्तु उन्होंने सामाजिक ऐसे किसी गुण का संकेत नहीं किया, जिसके सामाजिक में 'भोजकत्व' की सम्भावना रहती है। इस कमी को अभिनव ने पूर्ण किया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सामाजिक अपनी का आस्वाद लेता है। विभावादि का वर्णन उसे जाग्रत करता है। व्यंजना-व्यापार की प्रधानता बतलाकर अभिनवगुप्त ने ध्वनि और पाठक

आचार्य	दार्शनक	मत वाद	रस की स्थिति	सयाग का अथ	[illegible]
भट्टलोल्लट	मीमांसक	उत्पत्तिवाद या आरोपवाद	मूल रूप से अनुकार्यों मे रहता है नटादि अनुकर्त्ताओ मे आरोप होता है गौण रूप से सामाजिको मे अनुकरण के चमत्कार से	कार्य-कारण-भाव	उत्पत्ति
श्री शकुक	नैयायिक	अनुमितिवाद	नट के अनुमापादि द्वारा अनुकार्यों मे अनुमेय, गौणरूप से मामाजिको मे करण के चमत्कार से। नट और अनुकार्य का चित्रतुरग न्याय से तादात्म्य मानते हैं	गम्य-गम्यक-भाव अथवा अनुमाप्य-अनु-मापक-भाव।	अनुमिति
भट्टनायक	साख्यवादी	भुक्तिवाद	अभिधा भावकत्व द्वारा आलम्बनादि साधारणीकृत होकर सामाजिक के भोग का विषय बनते है (भोजकत्व)	भोज्य-भोजक-भाव	भुक्ति(आस्वाद)
अभिनव गुप्त	वेदान्ती	अभिव्यक्तिवाद	व्यजनावृत्ति द्वारा (भावकत्व और भोजकत्व अनावश्यक) सहृदय सामाजिक मे स्थायी भावो के सस्कारो की विभावादि के योग से अभिव्यक्ति जिस प्रकार जल के योग से मिट्टी की अव्यक्त गध व्यक्त हो जाती है।	व्यग्य-व्यजक-भाव	अभिव्यक्ति

को महत्व प्रदान किया है । व्यग्यार्थ उसके बोधक की अपेक्षा रखता है।

काव्य का रस तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एवं स्वांग विमुक्त, सतोगुण-प्रधान, आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासना स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द है । व्यक्तिगत-संस्कार साधारणी होकर 'टाइप' या साँचे बन जाते हैं । 'टाइप' व्यक्ति और साधारण के बीच की चीज है । इन साँचों में मिलने के कारण अखण्ड चिन्मय आत्मप्रकाश भी शृंगारादि के भेद दिखाई पड़ते हैं । वह आनन्द फैलता है, चित्त को व्याप्त कर लेता है इसी कारण रस कहलाता है ।

साधारणीकरण

काव्य में साधारणीकरण एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होता है। काव्य के पठन श्रवण या नाटकादि के दर्शन से जो हमें एक अलौकिक आनन्दानुभव होने लगता है उसका आविर्भाव साधारणीकरण द्वारा होता है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक जिज्ञासा हो सकती है कि साधारणीकरण क्या है। किसका साधारणीकरण होता है, कैसे होता है इत्यादि । इन जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास संस्कृत-हिन्दी-आचार्य अद्यावधि करते आ रहे हैं । नीचे की पंक्तियों में हम इस विचार-प्रवाह का क्रमिक विश्लेषण ऐतिहासिक सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे हैं ।

हमारा लौकिक अनुभव क्षणिक एवं देश-काल से आबद्ध होता है। किन्तु हम उससे सन्तुष्ट न रहकर उसे व्यापक और स्थायी बनाना चाहते हैं। और इस उद्देश्य-सिद्धि में काव्य (व्यापक अर्थ) में बड़ा ही उपादेय सिद्ध होता है। उसका आश्रय लेकर हम अपना आत्म-विस्तार देश-काल-पात्र की क्षुद्र-सीमाओं से मुक्त होकर कर पाते हैं और व्यापक आनन्दानुभव में समर्थ हो पाते हैं। स्पष्ट है कि इस आनन्दानुभव के लिए हमें कई बन्धनों के ऊपर उठना पड़ता है । विज्ञान में जिस प्रवृत्ति द्वारा हम 'विशेष से 'सामान्य' की ओर जाते हैं उसी प्रवृत्ति के द्वारा काव्य में कवि अपनी विशिष्ट अनुभूति को व्यापकता प्रदान करता है ।

"सुख-दुःख के मूल ममत्व-परत्व की आनन्द-व्याघातक भावना को दूर करने

ए ही साहित्य में 'साधारणीकरण' का विधान होता है।"

'साधारणीकरण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'भुक्तिवाद' के संस्थापक आचार्य ट्टनायक' ने किया। रस-निष्पत्ति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि र में तीन प्रकार की क्रियायें होती है – १– अभिधाक्रिया, २– भावकत्व भोजकत्वक्रिया। इनमें अभिधा क्रिया के द्वारा हम काव्य के शब्दार्थ में चित होते है एवं भावकत्व क्रिया के द्वारा सहृदय के हृदय-स्थित स्थायिभाव विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। तत्पश्चात् 'भोजकत्व' व्यापार साधारणीकृत विभावादि का रस के रूप में 'भोग' होता है। भट्टनायक के बाद् आचार्य अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण को और पजोहल ढग में सर्व-क्ष रखने की चेष्टा की, तदुपरान्त अन्य साहित्य मनीषियों ने अपने-अपने चारों को व्यक्त किया।

हिन्दी मे 'साधारणीकरण' पर विचार करने वालो मे वर्त्तमान आलोचकों सर्वश्री डा० श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं डा० नगेन्द्र प्रमुख। डा० श्यामसुन्दर दास ने आचार्य केशव प्रसाद मिश्र का अनुकरण करते ए 'साधारणीकरण' का विश्लेषण 'योग की मधुमती-भूमिका' के आधार पर क्या है। उनके विस्तृत विवेचन का सार इस प्रकार है "योगी की मधुमती भूमिका में जो आनन्दमयी स्थिति रहती है, वैसी स्थिति मे जीवन-यापन की क्षमता प्रतिभाशाली कवियों में स्वभावत हुआ करती है। काव्य के सहृदय अध्येताओं का कवियों की तादृश अनुभूति से तादात्म्य प्राप्त करना ही 'साधारणी-करण' है।

डा० साहब पर आचार्य विश्वनाथ का स्पष्ट प्रभाव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का विश्लेषण करते हुए कहा –

'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही एक सहृदय पाठक या श्रोता के भाव का आलम्बन हो जाती है। तात्पर्य यह कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।"

आचार्य शुक्ल के उक्त आशय का विश्लेषण किया जाय तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं –

१– सहृदय पाठक या श्रोता के भाव का साधारणीकरण होता है।

२– उसका आश्रय के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है।

३– आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति में समान प्रभाव वाले कुछ ऐसे धर्मों की प्रतिष्ठा होती है, जिनके कारण वह सहृदय पाठक का आलम्बन बन सके।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने जहाँ प्रथम दो सूत्रों में प्राचीन संस्कृत आचार्यों की एतद्विषयक मान्यताओं का समाहार प्रस्तुत किया है, वहाँ अन्तिम सूत्र में समान प्रभाव वाले कतिपय धर्मों का निर्देश कर कवि-कर्म की ... साधारणीकरण में परिलक्षित होने वाले 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद' की ओर भी ... किया है।

डा० नगेन्द्र ने विभावादि को कवि की मानसी-सृष्टि मानते हुए विषय के महत्व को नगण्य रक्खा है और कवि की अनुभूति का 'साधारणीकरण' माना है। इस वाक्य खण्ड का अर्थ यदि सहृदय पाठक-श्रोता के रत्यादि स्थायी भावों का कवि की अनुभूति रूप में रूपान्तरण है, तब तो मान्य है अन्यथा भ्रामक।

साराश यह कि देश के सम्बन्ध में व्यापकता और काल के ... शाश्वतता, हमारी आत्मा की सहज प्रवृत्ति है। साधारणीकरण साहित्य के अपने देश-काल के सीमित ज्ञान को विस्तृत करता हुआ, ममत्व-परत्व की भावना को दूर कर देता है। साधारणीकरण में यही मूल कार्य करता है। कुछ आचार्य विभावों का साधारणीकरण और आश्रय से तादाम्य की बात करते हैं, इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुख्य हैं। कुछ आचार्य सम्बन्धों की स्वतन्त्रता पर बल देते हैं। कुछ की मान्यता है कि श्रोता या पाठक के हृदय का साधारणीकरण होता रहा है और कुछ आचार्य कवि की आन्तरिक अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में 'बूचर' आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं। वास्तविकता यह है कि कवि, पाठक, दर्शक, सम्बन्ध एवं भाव सभी का साधारणीकरण होता है।

तादात्म्यीकरण' से काव्यानुशीलन का अभ्यास बढ़ता है, भाव तादात्म्य की वृद्धि होती है, सात्त्विक रति का अभ्यास होता है, मनोवेगों का होता है और विस्तृत मन को रागात्मक अनुभूति होने लगती है।

औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य' सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य 'क्षेमेन्द्र' माने जाते हैं। जहाँ औचित्य का प्रश्न है, काव्याचार्य भरत से लेकर आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव आदि आचार्यों ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। यद्यपि भरत भामह ने 'औचित्य' शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया, किन्तु इसकी सत्ता र की है। सर्व प्रथम दण्डी ने 'गुण' शब्द का 'औचित्य' अर्थ लिया है स्पष्ट रूप से कन्नौज नरेश यशोवर्मन ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक में चत्य' शब्द का प्रयोग किया है। आलंकारिकों में रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में त्य का प्रयोग किया है और औचित्य तत्त्व का विश्लेषण भी किया है। द्र से पूर्व आचार्य आनन्दवर्द्धन ने काव्य के विभिन्न अंगों में 'औचित्य' तत्त्व व्यापक मीमांसा प्रस्तुत की है।

चित्य की परिभाषा तथा स्वरूप

'औचित्य' शब्द की व्युत्पत्ति है–
'उचितस्य भाव औचित्यम्'

अर्थात् उचित के भाव का नाम औचित्य है। औचित्य का तात्पर्य उचित र्य, उचित व्यवहार या उचित आचरण है। किन्तु काव्य के प्रसंग में इसक काव्यांगों की उचित योजना से है। इस प्रकार भाव, रस, भाषा, अलंकार ति, गुण, शब्द-शक्ति आदि सभी काव्य तत्वों में उचित सामंजस्य का रखन औचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की यह परिभाषा की है –

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् जो वस्तु जिसके सदृश हो, उसको उचित कहते हैं, और उचित का ाव ही 'औचित्य' कहा जाता है। जिस प्रकार शरीर में सौन्दर्य का सर्वोपरि हत्व है, आन्तरिक और बाह्य, दोनों दृष्टियों से जो व्यक्ति सुन्दर होता है

उसी का सौन्दर्य पूर्ण-प्रतिष्ठा का विषय होता है। इसी प्रकार का
क्षेत्र मे भी भाव-पक्ष और कला-पक्ष का समुचित सौन्दर्य अपेक्षित होता है
उसमें वास्तविक सौन्दर्य आ पाता है। यदि किसी का एक हाथ बड़ा और
छोटा है तो वह उसके सौन्दर्य मे बाधक होगा। इसी प्रकार काव्य के
भी यदि कलापक्ष प्रबल है और भावपक्ष दुर्बल है, तो काव्य मे वा
सौन्दर्य नही आ सकता। अतः दोनो मे उचित सामजस्य अपेक्षित हो
उचित ढग, उचित स्थान पर विन्यस्त वस्तु ही सौन्दर्य-जनक होती है। औ
से दूर गुण भी अवगुण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ हार की शोभा गले
होती है, पैर मे नही। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र मे भी रस, अलकार
का औचित्य पूर्ण विधान सौन्दर्योत्पादक होता है। उदाहरणार्थ श्रृगार
साथ माधुर्य गुण ही अनुकूल होगा 'ओज गुण' नही।

इस प्रकार 'औचित्य' वह विवेक बुद्धि है, जो सत् और असत् मे विवे
प्रक्रिया को पुष्ट करती है। क्षेमेन्द्र ने काव्य के क्षेत्र मे अनेक प्रकार के औ
का विस्तृत उल्लेख किया है। जिसके अन्तर्गत प्रबन्ध-औचित्य, प्रकरण-औ
पद-औचित्य, प्रत्यय-औचित्य आदि आते है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का यह सि
व्यवस्थापक है। उद्भावक नही। जिस औचित्य को आनन्दवर्द्धन ने वि
का विषय बनाया, अभिनवगुप्त ने जिसकी व्याख्या की क्षेमेन्द्र ने उसी के
स्वतत्र 'काव्य-सिद्धान्त' घोषित कर दिया। क्षेमेन्द्र के पश्चात् मम्मट
आचार्यो ने औचित्य को दोषाभाव के रूप मे मान्यता दी और इसकी
सत्ता समाप्त कर दी। हिन्दी आचार्यो ने तो इस सिद्धात की ओर ध्य
नही दिया। वास्तव मे औचित्य के इस नकारात्मक रूप की अपेक्षा
स्वीकारात्मक रूप की आवश्यकता है।

अन्ततः काव्य सम्बन्धी षट् सम्प्रदायो के विवेचन से यह निष्कर्ष नि
है कि रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय का सम्बन्ध
के आन्तरिक पक्ष मे है, इन सब का प्रतिनिधित्व 'रस सिद्धात' करता है
।८ अलकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति एव रीति-सम्प्रदाय का सम्बन्ध का
से है, जिसका प्रतिनिधित्व 'अलकार-सम्प्रदाय' करता है। इस

४ | काव्य की परिभा[illegible]

काव्य 'वाङ्मय' का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना प्राणी [illegible]
अवयवों और रूपाकार के होते हुए भी निर्जीव और कान्ति हीन होता है,
प्रकार काव्य से विरहित वाङ्मय सर्वथा निष्प्रभ और लावण्यहीन होता
श्रीमद्भागवत मे ब्रह्मा जी की वन्दना 'आदि कवि' के अभिधान से मिलती
साहित्य मे 'कवि' शब्द प्रतिभाशाली, वर्णन-निपुण और रचनाकार के अ[illegible]
मिलता है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थो मे उसका इसी अर्थ मे प्रयोग [illegible]
जाता है।

काव्य शब्द 'कवि' शब्द से ही व्युत्पन्न हुआ है। जैसा कि अभिनव[illegible]
ने 'ध्वन्या लोक' की 'लोचन' टीका मे "कवनीय काव्यम्" लिखकर काव्य [illegible]
व्याख्या की है। विद्याकार ने अपनी एकावली टीका मे—
'कवयति इति कवि तस्य कर्म काव्यम्' लिखकर काव्य की व्याख्या की[illegible]

काव्य और साहित्य

वैसे तो संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थो मे काव्य प्रयोग साहित्य के प[illegible]
के रूप में किया गया है। किन्तु दोनो शब्द भिन्नार्थक हैं साहित्य काव्य [illegible]
अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ-वाचक है। इसे हम 'वाङ्मय' का पर्यायवाची [illegible]
सकते हैं। 'साहित्य' शब्द की सर्वप्रसिद्ध व्युत्पत्ति है "सहितयो: शब्दार्थ[illegible]
भाव: साहित्यम्"—

अर्थात् शब्द और अर्थ के सार्थक समन्वय-विधान को साहित्य कहते हैं।
[illegible] साहित्य उस रचना को कहते हैं, जिसमे शब्द और अर्थ की पर[illegible]
मय मनोहारिणी स्थिति रहती है। उपर्युक्त परिभाषा के भाव को [illegible]
[illegible] शब्दो मे रखना चाहेंगे कि—'साहित्य' शब्द और अर्थ का सुसमन्व[illegible]
[illegible] होता है। उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि साहित्य की परि[illegible]

...त विस्तृत और व्यापक है।

काव्य शब्द का प्रयोग साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित सकुचित [illegible] में किया गया है। भारतवर्ष में काव्य या साहित्य के स्वरूप सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना होती रही है। संस्कृत-साहित्याचार्यों की परिभाषाओं पर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने काव्य पर [illegible] दृष्टियों से विचार किया—एक काव्य के शरीर की दृष्टि से दूसरे काव्य [illegible] आत्मा (प्राण) की दृष्टि से। काव्य के शरीर से सम्बन्धित मत दो भागों [में] विभक्त किए जा सकते हैं—एक शब्दनिष्ठ-सम्बन्धी और दूसरा शब्द और [अर्थ] उभयनिष्ठ सम्बन्धी। शब्दनिष्ठ वालों का कहना है—

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'

इस मीमांसा-सूत्र से शब्द और अर्थ का अस्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध होता [है]। अतएव काव्य को शब्दनिष्ठ कहने से उसकी अर्थनिष्ठता स्वयं प्रकट हो [जा]ती है। शब्दार्थवादी काव्य में शब्द और अर्थ को व्यासज्यवृत्ति से सम्ब[न्]ध मानते हैं।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीन साहित्याचार्यों में बड़ा मतभेद [र]हा है। कुछ रस को कुछ अलंकार को कुछ औचित्य को कुछ रीति को कुछ [वक्रो]क्ति को और कुछ ध्वनि को काव्यात्मा मानते हैं। इस प्रकार काव्य के [लक्ष]ण को लेकर संस्कृत में विभिन्न सम्प्रदाय बन गये।

१. रस सम्प्रदाय २ अलंकार सम्प्रदाय ३ ध्वनि सम्प्रदाय ४ रीति [सम्]प्रदाय ५ औचित्य सम्प्रदाय ६ वक्रोक्ति सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों का प्रभाव काव्य परिभाषाओं पर भी पड़ा। अतः संस्कृत [आचा]र्यों की विभिन्न काव्य परिभाषायें प्रस्तुत की जा रही हैं—

संस्कृत के विद्वानों द्वारा की गई काव्य की परिभाषाएँ

१ अग्नि पुराण—

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली ।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद् दोषवर्जितम् ॥१॥

अर्थात् जिस रचना में अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाले संक्षिप्त वाक्य

हो, पदावली उनसे युक्त हो, अलकार स्पष्ट हो, गुण हो और दोष न हो
काव्य कहते है ।

इस परिभाषा मे काव्य के भावपक्ष एव कलापक्ष स्पष्ट है, किन्तु
स्पष्ट नही है ।

२ भामह—अलकारवादी आचार्य भामह की परिभाषा इस प्रकार है—
'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का साहचर्य काव्य है।
यह परिभाषा व्याख्या की अपेक्षा करती है, अस्पष्ट एवं अपूर्ण मानी जाती है।

३ दण्डी—'शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'

अर्थात् अभिलषित अर्थयुक्त पदावली को काव्यशरीर कहते हैं। इस परि-
भाषा मे भी काव्य की आत्मा की ओर ध्यान नही दिया गया। केवल श-
ही तो सर्वस्व नही है ?

४. वामन—'रीतिरात्मा काव्यस्य'

अर्थात् रीति काव्य की आत्मा है। आलोचना की दृष्टि से रीति
सम्बन्ध शैली तक से है और शैली काव्य की आत्मा नही है, अत यह परि-
भी त्याज्य है ।

५ मम्मट—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि ।"

अर्थात् मुख्य दोषरहित, सगुण शब्दार्थ काव्य है, यदि कही अलकार न
हो, तब भी काव्यत्व मे कोई बाधा नही पड़ती । इस परिभाषा मे 'रस'
स्पष्ट नाम तो नही आया, किन्तु उक्त सभी तत्त्व गौण हैं, अतः रस की प्रधानता
स्वत. सिद्ध हो जाती है ।

६ विश्वनाथ—'वाक्य रसात्मक काव्यम्' (सा० दर्पण)

अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है । यह परिभाषा पूर्ण तो है, किन्तु इ
'रस शब्द स्वव्याख्या की अपेक्षा रखता है ।

७ जयदेव—निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता ।

सालकार रसानेक वृत्ति वाक् काव्यनामभाक् ॥

अर्थात् काव्य वह रचना है, जिसमे दोष न हो, लक्षणो से पूर्ण हो, रीति
, अलकार रस तथा अनेक वृत्तियाँ भी हो । इस परिभाषा मे जयदे

र के भावपक्ष एव कलापक्ष दोनो का समन्वय किया है, अत यह परिभाषा
स्ता के निकट है।

८. पंडितराज जगन्नाथ—'रमणीयार्थ प्रतिपादक. शब्दः काव्यम्।'
(रस गगाधर)

अर्थात रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। यह परिभाषा
यक सगत है, क्योंकि इसमे 'रमणीय' शब्द अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है।

९. आनन्दवर्द्धन—"काव्यस्यात्मा ध्वनि ।' (ध्वन्यालोक)

अर्थात् 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है। विचारणीय है कि क्या ध्वनिविहीन
ना काव्य नही कहला सकता।

१०. कुन्तक—शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनौ ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणौ ॥

अर्थात् वक्रकवि व्यापार युक्त शब्दार्थ काव्य है, जो बन्धनयुक्त हो। यहाँ
र 'वक्र कवि व्यापार' व्याख्या की अपेक्षा करता है, अत यह परिभाषा भी
स्पष्ट है।

सक्षेप मे सस्कृत आचार्यों की परिभाषाओ मे पण्डितराज जगन्नाथ की परि-
ाषा अधिक मान्य है।

उपर्युक्त परिभाषाओ का प्रभाव हिन्दी काव्याचार्यों पर भी पड़ा है।

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों द्वारा की गई परिभाषायें

परिभाषा

हिन्दी के प्राचीन आचार्यों ने काव्य की परिभाषा देते समय प्राय सस्कृत
आचार्यों की परिभाषाओ का छायानुवाद-साकर दिया है। मम्मट की परिभाषा
की पुनुरुद्धरणी चिन्तामणि ने की है।

दो०— सगुन अलकारन सहित दोषरहित जो होई।
शब्द अर्थ वारो कवित्त है विबुध कहत सब कोई॥

रीतियुग के प्रसिद्ध आचार्यों की काव्य परिभाषा इस प्रकार है।

जग ते अद्भुत सुख सदन, शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैने कियो समुझ ग्रंथ बहुचित्त। —कुलपति मिश्र

सबद जीव तिहि अरथ मन रसमय सुजस सरीर ।
चलत वहै जुग छन्द गति अलकार गम्भीर॥ —दे
शब्द अर्थ बिन दोप गुन, अलकार रस वान ।
ताको काव्य बखानिए श्रीपति परम सुजान ॥ —श्रीपति

इस प्रकार रीतिकालीन विद्वानो ने शब्द और अर्थ पर अधिक बल प्रदा करने के साथ-साथ रस-अलकार तथा गति को भी ध्यान मे रक्खा है।

आधुनिक विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाएँ

आधुनिक युग के हिन्दी विद्वानो द्वारा दी गई काव्य-परिभाषाओ प अग्रेजी और सस्कृत दोनो मे पाई जाने वाली परिभाषाओ की छाया दिख पड़ती है। आधुनिक आचार्यों मे महावीरप्रसाद द्विवेदी अग्रगण्य हैं। उन्हों 'काव्य और कविता' शीर्षक मे लिखा है—

'जब मनोभाव शब्दो का रूप धारण कर लेते हैं, तब वही कविता क लाने लगते है, चाहे वह पद्यात्मक हो या गद्यात्मक।'

महावीरप्रसाद द्विवेदी की इस परिभाषा मे कुछ शब्द मिल्टन की काव्य परिभाषा से लिए जान पड़ते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक मे इस प्रकार लिख है—'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रका हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधन के लिए वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।

इस प्रकार शुक्ल जी ने रसतत्व को प्रमुखता प्रदान की है।

जयशकरप्रसाद काव्य को आत्मा की मूल 'सकल्पात्मक अनुभूति' मान हैं। उन्होंने कहा—

'आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व मे ग्रहण कर लेती है, काव्य मे मूल सकल्पात्मक अनुभूति कह जायेगी, कदाचित् प्रसाद और भवभूति दोनो ही 'वृहदारण्यकोपनिषद्' से प्रभा वित न रहे हो, पर उपनिषदो के प्रकाण्ड तो थे ही।

महादेवी वर्मा ने एक स्थल पर लिखा है—'कविता कवि विशेष की भाव

ति का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उसमें वैसी ही भाव-नाएँ किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत होती है।' इसमें साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट बताया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी विद्वानों में प्रधान रूप से दो वर्ग दिखाई देते हैं—एक तो वह जिस पर पाश्चात्य काव्य स्वरूप-निरूपण का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है दूसरे वह जो भारतीय काव्य सम्बन्धी मत का अनुयायी है। प्रथम वर्ग के प्रतिनिधि महावीरप्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं तथा प्रसाद और शुक्ल द्वितीय वर्ग के प्रतिनिधि माने जाते हैं। अतः काव्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये हमें भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-तत्वों का अध्ययन करना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन कर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते है—१-हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों की उक्तियों का निष्प्राण पिष्टपेषण किया है। उनके मौलिक चिन्तनों का स्फुलिंग कहीं नहीं दिखाई पड़ता।

२-आधुनिक विद्वानों ने यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को प्रतिध्वनित करने का प्रयास किया है, परन्तु फिर भी मौलिक चिन्तन का उन्मेष दिखाई पड़ता है।

पाश्चात्य विद्वानों की काव्य सम्बन्धी परिभाषाएँ

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। वे अन्य कलाओं के सदृश कविता को भी अनुकृति मानते है। एरिस्टाटिल ने उसे छन्दोबद्ध अनुकृति कहकर परिभाषाबद्ध किया है। होरेस ने 'आर्ट आफ पोयट्री' नामक रचना में कवि-कर्म को चित्रकार के कार्य सदृश कहा। शेक्सपीयर ने कविता को कल्पना की दुहिता ध्वनित कहा है। वर्ड्सवर्थ ने काव्य में कल्पना के स्थान पर 'भावना' को महत्व दिया है।

"Poetery is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquility."

और [illegible] का चित्रण किया है।

"P[illegible] coloured by feelings"

हैजलिट ने काव्य को कल्पना की भाषा कहा है।

पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त मतों का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो हम देखेंगे कि उनमें कई सम्प्रदाय हैं। संक्षेप में उन्हें हम इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं —

(कल्पनावादी) — १–काव्य में कल्पना की प्रधानता-कल्पनावादी।

(भाववादी) — २–काव्य में भाव, राग और सौन्दर्य-भाववादी।

(सत्यवादी) — ३–काव्य में सत्य और जीवन व्याख्या-सत्यवादी।

(कलावादी) — ४–काव्य में कला एवं चित्रविधायिनी शक्ति-कलावादी।

इन वर्गों में भी हमें दो प्रकार के वर्ग दिखाई पड़ते हैं—एक तो वे जो कविता को जीवन से अलग करके देखना चाहते हैं दूसरे वे जो कविता को जीवन की ही अभिव्यक्ति या आलोचना मानते हैं। प्रथम द्वितीय और चतुर्थ वर्ग तो कलावादी वर्ग के अन्तर्गत रखे जाते हैं और तृतीय वर्ग जीवन से सम्बद्ध वर्ग माना जाता है।

संक्षेप में पाश्चात्य विद्वानों में से किसी ने कल्पना तत्त्व को महत्व दिया है, किसी ने भावतत्त्व को किसी ने बुद्धितत्त्व को और किसी ने शैलीतत्त्व को। वास्तव में सुन्दर काव्य वही होगा जिसमें चारों का सुन्दर सामञ्जस्य विधान होगा।

इस प्रकार काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं पर विचार करने से पता चलता है कि दोनों प्रकार के विद्वानों के मतों में कितनी विभिन्नता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कला को प्रमुखता प्रदान की है। भारतीय विद्वानों ने उसके गम्भीर रूप को वरीयता प्रदान की है। अन्त में हम 'गुलाबराय' की समन्वित परिभाषा प्रस्तुत कर रहे हैं —

समन्वित परिभाषा

काव्य साहित्य का समानार्थी है। साहित्य जीवन और जगत के सत्यात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झांकी है, जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और

कल्याण का विधान होता है। वास्तव में साहित्य भी ज्ञान के समान एक ऐसा गया है, जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों में हो पाती है; इन्हीं शब्दों को विभिन्न अभिधान दे दिये गये हैं, जो कभी काव्य तथा कभी शास्त्र के नाम से जाने जाते हैं।

काव्य-परिभाषाओं का विश्लेषणात्मक वर्णन

परिभाषाएँ	स्थूल माध्यम	आधारभूत तत्व	सार
१ शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है। (भामह)	शब्द और अर्थ	+	+
२ इष्ट अर्थ से विभूषित पद समूह ही काव्य शरीर है। (दण्डी)	पद समूह	इष्ट अर्थ	+
३. काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है। (वामन)	शब्द और अर्थ	गुण तथा अलंकार	+
४. गुण और अलंकारों से युक्त वाक्य ही काव्य है। (राजशेखर)	वाक्य	गुण तथा अलंकार	+
५. शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास साहित्य है जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने संतुलित हों कि न तो कोई न्यून हो और न कोई अधिक।	शब्द और अर्थ	मनोहर	+
६. वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हो, गुण से मंडित हो, भले ही कहीं अलंकार से शून्य हो, काव्य है। (मम्मट)	शब्द और अर्थ	दोष रहित गुण मंडित	+

काव्य-परिभाषाओं का विश्लेषणात्मक परिचय

परिभाषाएँ	स्थूल माध्यम	आधारभूत माध्यम तत्व	लक्ष्य
'भाषा के माध्यम से होने वाली अनुकृति काव्य है।' (अरस्तू)	भाषा	अनुकृति	+
काव्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा देना और आनन्द देना है। (सिडनी)	+	अनुकरणात्मक	शिक्षा आनंद
काव्य भावात्मक एवं विस्तृत भाषण के द्वारा प्रकृति की अनुकृति है। जे० डेनिस	भाषण	भावात्मक अनुकृति	+
. काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना न होकर प्रसन्नता प्रदान करना है। (कालरिज)	रचना	+	प्रसन्नता प्रदान करना
५. काव्य कल्पना और भावों की भाषा है। हेजलिट	भाषा	कल्पना और भाव	+
६. काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम् हृदयों के श्रेष्ठतम् क्षणों का लेखा-जोखा है। (शेली)	लेखा-जोखा	सुखीहृदय	+

४ भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में।
५ भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

भावों की आधारभूमि के रूप में

भावनाओं का उदय और विकास विचारों के आधार पर ही होता है। जीवन में विविधरूपिणी जटिल परिस्थितियाँ आती हैं। ये परिस्थितियाँ विविध प्रतिक्रियायें उत्पन्न करती है और धीरे-धीरे विचारों का रूप धारण कर लेती है। मनुष्य की परवर्ती अनुभूतियाँ और भाव-धाराएँ इन्हीं विचारात्मक प्रतिक्रियाओं पर अवलम्बित रहती हैं। कवि अपने काव्य का सृजन भी इन्हीं विचार या बुद्धि प्रेरित भावानुभूतियों के सहारे करते है। अत विचार भावों की आधारभूमि कहे जा सकते है। क्रोचे आदि कई विद्वानों ने कहा कि कवि कलाकार होता है। वह कल्पना को प्रमुख स्थान देता है। वास्तव में विचारात्मक निर्णय के पश्चात उनके अनुरूप ही भावना का उदय होता है। विचार, भावना के मिश्रण से काव्योचित रूप धारण कर सरस हो जाते है, साथ ही भावना को सयत और क्रमबद्ध रूप प्रदान करते है।

भावों को स्पष्टतर करने के लिए

काव्य-क्षेत्र मे बुद्धि का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य भावना को एक निश्चित और स्पष्ट रूप प्रदान करना है। कवियों में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसके माध्यम से वे अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करते हैं। विचार शक्ति के सहारे उच्चकोटि के कवियो की अभिव्यंजना इतनी प्रभावाभिव्यंजक हो जाती है कि सहृदय पाठक उनकी अनुभूतियों का स्पष्ट चित्र-सा अनुभव करने लगते हैं। कवि की अभिव्यक्ति को सौन्दर्यशाली और प्रभावात्मक रूप विचार-शक्ति देती है

लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप-निर्माण के रूप मे

प्रत्येक लेखक अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। उसकी प्रत्येक रचना में दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया अवश्य मिलती है। वह अपने दृष्टिकोण को विचारात्मक रुचि के अनुसार ही स्थिर करता है। उदाहरणार्थ प्रसाद-काव्य में उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यक्त होता है, अत सत असत् काव्यों

८. भाषा की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के रूप में।

९. भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

भावों की आधारभूमि के रूप में

भावनाओं का उदय और विकास विचारों के आधार पर ही होता है। जीवन में विभिन्न जटिल परिस्थितियाँ आती हैं। ये परिस्थितियाँ विविध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं और धीरे-धीरे विचारों का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की परवर्ती अनुभूतियाँ और भाव-धाराएँ इन्हीं विचारात्मक प्रतिक्रियाओं पर अवलम्बित रहती हैं। कवि अपने काव्य का सृजन भी इन्हीं विचार या बुद्धि प्रेरित भावानुभूतियों के सहारे करते हैं। अतः विचार भावों की आधारभूमि कहे जा सकते हैं। क्रोचे आदि कई विद्वानों ने कहा कि कवि कलाकार होता है। वह कल्पना को प्रमुख स्थान देता है। वास्तव में विचारात्मक निर्णय के पश्चात उनके अनुरूप ही भावना का उदय होता है। विचार, भावना के मिश्रण से काव्योचित रूप धारण कर सरस हो जाते हैं, तब ही भावना को सघन और क्रमबद्ध रूप प्रदान करते हैं।

भावों को स्पष्टतर करने के लिए

काव्य-क्षेत्र में बुद्धि का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य भावना को एक निश्चित और स्पष्ट रूप प्रदान करना है। कवियों में एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसके माध्यम से वे अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। विचार शक्ति के सहारे उच्चकोटि के कवियों की अभिव्यजना इतनी प्रभावाभिव्यंजक हो जाती है कि सहृदय पाठक उनकी अनुभूतियों का स्पष्ट चित्र-सा अनुभव करने लगते हैं। कवि की अभिव्यक्ति को सौन्दर्यशाली और प्रभावात्मक रूप विचार-शक्ति देती है

लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप-निर्माण के रूप में

प्रत्येक लेखक अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखता है। उसकी प्रत्येक रचना में दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया अवश्य मिलती है। वह अपने दृष्टिकोण को विचारात्मक रुचि के अनुसार ही स्थिर करता है। उदाहरणार्थ प्रसाद-काव्य में उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यक्त होता है, अत सत असत् काव्यों

ाश्रित हैं।

रिभाषा

भाव के स्वरूप को स्पष्ट कर उसे परिभाषाबद्ध करने का प्रयास अनेक ाचार्यों ने किया। भावो का उदय अनुभूति से होता है। रामचन्द्र शुक्ल ने ाखा है :—

"नाना विषयो के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली च्छा की अनेक रूपता के अनुसार अनुभूति के जो भिन्न-भिन्न योग सगठित ोते है, वे भाव या मनोविकार कहलाते है।"

बाबू गुलाबराय—"साहित्य के 'भाव' मनोविज्ञान के भावो से भिन्न होते ै। भाव मन के उस विकार को कहते हैं, जिसमे सुख-दुखात्मक अनुभव के ाथ कुछ क्रियात्मक प्रवृति भी रही है।" मनोविकारो के शाब्दिक, मानसिक ा शारीरिक किसी भी क्रिया द्वारा प्रकट हो जाने पर ही भाव की सज्ञा दी ाती है।

अत. सक्षेप मे कहा जा सकता है—भाव हमारे हृदय के वे उद्‌बुद्ध मनोविकार होते हैं, जो जीवन और जगत के सम्पर्क मे उत्पन्न होकर हमारे हृदय े प्रसुप्तावस्था मे घनीभूत होते रहते है।

ाव के पक्ष एवं भेद

पक्ष—भावना का सम्बन्ध मन से होता है, मन अन्तरात्मा की कार्यकारिणी शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा परिचालित मनोविकार भावरूप मे परिणित होते हैं। प्रधान रूप से भाव के सुख और दु ख, दो महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं। इन दोनो के मध्य समभावो का परिचालन होता है।

भेद—भावो का सम्बन्ध मन की इच्छाओं से होता है। इच्छाएँ अनन्त होती है, इन्ही के अनुसार भाव भी अनन्त होते है। स्थूल रूप से भावो के तीन मुख्य भाग किये जा सकते है—

१ इन्द्रियजनित भाव
२. प्रभावात्मक भाव
३. गुणात्मक भाव

इन्द्रियजनित भाव—इन्द्रियजनित भावों का सम्बन्ध स्थूल शरीर से होता है। शरीर के माध्यम से ही अन्तरात्मा सर्वप्रथम अपनी क्रिया प्रकट करती है। वाह्य पदार्थों की अनुभूति भी सबसे पहले इन्द्रियों द्वारा होती है। इन अनुभूतियों से उत्पन्न भावों को ही इन्द्रियजनित भाव कहते हैं। इन भावों को ही 'सामान्य-भाव' भी कहते हैं।

प्रज्ञात्मक भाव—प्रज्ञात्मक भाव वे हैं, जो मन की अनुभव प्राप्त करने वाली शक्ति से सम्बन्ध रखते है। इन्द्रियजनित भाव मनः व्यापार-शक्ति की प्रथम क्रिया का सद्य प्राप्त प्रतिफल है, किन्तु प्रज्ञात्मक भाव उस क्रिया की प्रतिक्रिया से पुष्ट ज्ञान का परिणाम है। दोनों प्रकार के भावों में यही अन्तर है। इन्द्रियजनित-भाव सीधे इन्द्रिय ज्ञान से प्राप्त होते हैं और प्रज्ञात्मक भाव भूत, भविष्य और वर्तमान के अनुभवों द्वारा उन इन्द्रियजनित भावों को पुष्टतर करते हैं। प्रज्ञात्मक भावों का सम्बन्ध भूत, भविष्य, वर्तमान से अधिक है। भविष्य को सोचकर चिन्ता का, भूत को सोचकर विषाद का भाव उत्पन्न होता है। साधारणतया काव्य में यही भाव संचारी भाव कहलाते हैं और कभी-कभी स्थायीभाव का भी रूप धारण कर लेते है।

गुणात्मक भाव—तीसरे प्रकार के भाव गुणात्मक भाव कहलाते हैं। इन भावों का सम्बन्ध मनोमुग्धकारी सौन्दर्य-बोध से होता है। किसी वस्तु के या व्यक्ति के विषय में जानने की प्रवृत्ति मन में होती है। इस इच्छा को पूर्ण करने वाली वृत्ति 'प्रज्ञात्मक भाव' कहलाती है, किन्तु जब हम किसी सुन्दर वस्तु या गुणवान व्यक्ति को देखते हैं, तो उसके प्रति मन में एक आदर्श की भावना उदित होती है। हम उसकी प्राप्ति करने या उसके अनुकूल होने की इच्छा करते हैं। इस भाव को 'सौन्दर्य-विवेकी-भाव' कहते हैं, जिसका गुणात्मक भावों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन भावों को उद्दीप्त भावों की भी संज्ञा दी जाती है।

भावानुभूति और रस

काव्य का लक्ष्य 'रस परिपाक' होना होता है। 'रस परिपाक' में भाव ... स्थान रखते हैं। भरत मुनि ने लिखा है—

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जित' अर्थात् भावहीन रस नहीं होता और रसहीन भाव नहीं होता। रस की निष्पत्ति भावों के विविध स्वरूपों के सम्मिश्रण से होती है। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" भरत मुनि के इस सूत्र में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि शब्द भाव के ही विविध रूपान्तर हैं। भाव ही रस से पुष्ट होकर विभाव अनुभाव आदि रूप धारण करते हैं। इन्हीं के उचित सम्मिश्रण से काव्य में हृदय-स्पर्शी रस का विकास होता है। आलोचकों ने हृदय संवाद और साधारणीकरण की प्रक्रिया भी माना है। इस प्रकार भाव और रस परस्पर सम्बन्धित तत्व हैं। अन्ततः रस हृदयपक्ष या भावपक्ष का मूल है। जिस काव्य में यह मूल प्रधान रहता है, वही श्रेष्ठ काव्य होता है। अतः हृदयपक्ष या भावपक्ष की प्रधानता कविता में रहती है।

शुक्ल आते हैं।

सामञ्जस्यवादी वर्ग

'क्रोचे' सामञ्जस्यवादी था। उसने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से साहि की विवेचना की। उसका मत था कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से कवि है और क होने के बाद दार्शनिक होता है। कल्पना मन के सहज-स्वाभाविक ज्ञान प्रक्रिया है। इसी के सहारे अभिव्यंजना के साँचे मे ढलकर साहित्य और क मे मूर्तियाँ निर्मित होती है।

कल्पना के सम्बन्ध में सर्वमान्य मत

१. सभी विद्वानो ने 'मूर्त्त-विधान' करना कल्पना का आवश्यक व्याप माना है। किन्तु यह मूर्त्त-विधान व्यावहारिक और साहित्यिक दो प्रकार हो सकता है। कल्पना को शुद्ध साहित्यिक स्वरूप तथा उसको संकल्पित मा वाले विद्वान् आदर्शवादी कहे जा सकते हैं तथा कल्पना के व्यावहारिक पक्ष विश्वास करने वाले यथार्थवादी कहे जा सकते है।

२. सभी विद्वानो ने कल्पना को ग्राहक और विधायक दोनो माना है।

साधारणतया किसी कवि की कल्पना-शक्ति का विवेचन करते समय ह कल्पना-शक्ति के निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक पक्षो का विश्लेषण करना चाहिए

१. कल्पना व्यापार के विधि स्तरो की व्यवस्था।
२ स्मरण-शक्ति
३ कवि की सम्बन्ध भावना
४ कल्पना मे भावो की प्रक्रिया
५ अन्त मे उस कवि की कल्पना के महत्व पर प्रकाश डालने की क्षमता

कल्पना तत्व और रस तत्व

कल्पना का इतना विवेचन करने के पश्चात् हम रस तत्त्व से उसका सं न्ध है, उस पर विचार करना आवश्यक मानते हैं। भाव, रस के बिन स्थिर रह सकता और रस भाव के बिना नही स्थिर रह सकता। रस सू का स्वरूप-निरूपण करते हुए रस के अग के रूप मे विविध प्रकार

व ही लाए गये है। 'प्रतिभा' इन भावों को उत्पन्न करती है। ये भाव ही
वृत्ति को परिचालित कर रूप विधान करते है। अतएव इन रूप विधानों में रम-
णीयता और रसात्मकता का होना अनिवार्य होता है। सच तो यह है कि
ल्पना-विधि-विनिर्मित कोई भी चित्र नीरस नहीं हो सकता। कुछ पाश्चात्य
द्वानों ने तो इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'कल्पना ही आनन्द' तक कह
ला है। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य 'कल्पना' तत्त्व का हमारे रस तत्त्व से
ई विरोध नहीं है। सच्ची-कल्पना की पहचान यही है कि उसमें रसात्मकता
ी पूरी प्रतिष्ठा हो। रसात्मकता के अभाव में कल्पना न कहलाकर बुद्धि का
ायाममात्र कही जाएगी। सच्ची कल्पना का वास्तव में रस से कोई विरोध
ी हो सकता।

ैली तत्त्व

काव्य का शैली-तत्त्व मनोगत भावों को मूर्त रूप प्रदान करने वाला महत्त्व
या है। 'शैली' काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके
वगत-रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उत्पादन के रूप में
ह रस सचार करने में भी सहायक है। भाव सौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत
ौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य
ी विलुप्त हो जाता है। प्रत्येक लेखक की गूढ़ भावनाओं और व्यक्तित्व के
नुसार शैली अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। मुख्य रूप से शैली के दो तत्त्व
ोते है। एक व्यक्तित्व तत्त्व और दूसरा वस्तु तत्त्व या पर आन्तरिक और
ाह्य बाह्य। पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों द्वारा किये गए विवेचन का
सम्पूर्ण अध्ययन करने के लिये शैली के निम्नलिखित पक्षों का अध्ययन आव
श्यक है—

शैली के पक्ष

'हडसन' ने शैली का वर्णि [illegible] तीन पक्ष लिखे
[illegible] । इन [illegible] । का अध्ययन
सकता है।

शैली का व्यापक-गुण

भारतीय समीक्षा में शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं, वरन्
से भी है। इसीलिए गुण-दोष शब्द और अर्थ दोनों के ही माने गये हैं। अ
कारों में भी शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्व दिया गया है। शैली का म
गुण अनेकता में एकता और एकता में अनेकता है। एकता के बिना अने
विरोध, वैषम्य और असगति का रूप धारण कर लेती है, और बिना अने
के एकता रूक्ष और दरिद्र है। अनेकता के द्वारा एकता में सम्बद्धता और
गठन के गुण घोषित होते हैं और एकता में अनेकता द्वारा सम्पन्नता प्रति
होती है। सुसम्बद्ध-सम्पन्नता अर्थात् थोड़े में बहुत की व्यजना, शैली का
गुण है, लेकिन वह हो प्रसादयुक्त।

भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय आचार्यों ने काव्य के ६ प्रमुख तत्त्वों को माना है, जो
प्रकार हैं—

१ शब्दार्थ-तत्त्व–शब्द तथा अर्थ का ठीक-ठीक प्रयोग।
२ ध्वनि-तत्त्व–काव्य की आत्मा।
३ अलकार-तत्त्व–शोभावृद्धि हेतु प्रचीन तत्त्व।
४ रीति-तत्त्व–ढग या विधि का योग।
५ गुण-तत्त्व–उत्पन्न आनद या कष्ट।
६ छन्द-तत्त्व–सगीत तथा काव्य सम्बध।

शब्दार्थ तत्त्व

साहित्य साधना का मूलाधार काव्य साधना है। जिस प्रकार सर्वो
सैनिक के लिए सर्वोत्तम अश्व चाहिए, उसी प्रकार सर्वोत्तम विचार के लि
सर्वोत्तम शब्द भी चाहिए। शब्द ऐसा होना चाहिए जिसका कोई अर्थ हो
सार्थक शब्द होना चाहिए। पाठक पर रचना के शब्दों, अर्थो और अ
के प्रकारों का प्रभाव पडता है। शब्दों का भण्डार तब तक कोई
रखता, जब तक वे शब्द जिस भाव के लिए चाहिये, उचित प्रयुक्त न
हो। पगु एव असमर्थ शब्दों का प्रयोग न विषय को स्पष्ट करने की क्षम

ता है, न वाणी का भूषण ही बनता है । जहाँ जिस शब्द की अपेक्षा हो, हाँ उसी शब्द का प्रयोग वाञ्छनीय है । कुशल कलाकार शब्दों की आत्मा परिचित होता है । शब्द में महती शक्ति होती है, पर उसका प्रस्फुटन सम्यक् ोग पर होना चाहिए । कुछ कवियों की रचनाओं में काव्य-कला, नृत्य करती ई चलती है, उसके प्रवाह, वेग एवं क्रीडन एवं अद्भुत संगीत की सृष्टि खड़ी र देते है । सामान्य से सामान्य विषय भी शब्दों की कसावट में बँधकर लोको- र बन जाता है । धूलि पर रेखाओं द्वारा चित्र खींचना मानो धूलि को भी जीवना प्रदान करता है ।

शब्दों में निहित अर्थ भी कलाकार का संकेत पाकर कभी नर्मदा के 'धुआँ- ार' की भाँति शोर करते हुये चलते हैं, कहीं श्वेत श्यामल शैलों के बीच में डकर गम्भीर एवं प्रशान्त रूप धारण कर लेते हैं और कहीं टकरा कर मारती ुई लहरों की भाँति बर्ताव करने लगते है ।

साहित्य में शब्द और अर्थ वैसे ही ओत-प्रोत दीखते हैं जैसे सृष्टि में ब्रह्म और माया । निरर्थक शब्दों से साहित्य का कोई प्रयोजन नहीं और शब्दों के बिना सामान्य-व्यवहार एवं साहित्य-सर्जन में अर्थ की सम्भावना ही नहीं की जा सकती ।

साहित्य में काव्य की सत्ता इसी शब्दार्थ पर अवलम्बित है । अतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य के जितने तत्त्व बतलाए है, वे सभी शब्दार्थ के ही पोषक हैं।

ध्वनि तत्व

रस यदि काव्य की आत्मा है, तो ध्वनि काव्य शरीर को बल देने वाली प्राण-शक्ति अवश्य है । 'ध्वनि' शब्द का अर्थ है 'अनुरणन' या घण्टे की सी न' के बाद देर तक होने वाली झंकार । यह एक प्रकार से अर्थ का भी अर्थ । तभी तो इसको शरीर-मात्र से कुछ अधिक प्रधानता मिली है । आनन्द- र्धन के शब्दों में—

"जहाँ शब्द तथा अर्थ अपने स्वार्थ का उत्सर्ग कर देते है और व्यंग्यार्थ को प्रकट करते हैं, वह व्यंग्य ही ध्वनि है ।' अर्थात् अर्थ या शब्द अपने निजी अर्थ को छोड़कर जिस विशेष अर्थ को प्रकट करता है, उसे विद्वान् लोग ध्वनि

ध्वनित करते हैं।

जिस प्रकार [illegible] को शब्द की आत्मा कहते हैं, [illegible] को [illegible] कहते हैं उसी प्रकार आनन्दवर्धन भी 'ध्वनि' [illegible] को आत्मा [illegible] करते हैं।

[illegible] जिस प्रकार [illegible], मुक्तायें, [illegible] आदि भी [illegible] हैं। [illegible] की व्यवस्था के अतिरिक्त [illegible] उत्पन्न करते रहते हैं उसी प्रकार [illegible] के शब्दों में [illegible] के अतिरिक्त भी एक विशिष्ट प्रकार का [illegible] अनिर्दिष्ट [illegible] जो हम सहज ही [illegible] कर लेते हैं। ध्वनि का [illegible] इस तत्त्व का [illegible] हो जाता है।

अलंकार तत्त्व

अलंकार-शास्त्र को हमारे यहाँ काव्यशास्त्र भी कहा गया है। अलंकार काव्य-सौन्दर्य के विधायक हैं। इनकी संख्या भी अपरिमित है। जैसे वाणी विधान अनेक हैं अभिधान के प्रकार असंख्य हैं, कथन के ढंग अनन्त हैं, वैसे ही अलंकार भी अनन्त हैं।

अलंकार शैली की उत्कृष्टता में भी सहायक होते हैं। शब्दालंकारों द्वारा शब्दमाधुर्य की सृष्टि की जाती है। अतः अलंकार काव्य के उन तत्त्वों को कहते हैं, जो उसकी शोभा बढ़ाते हैं, ये न केवल उसके शब्द-माधुर्य को बढ़ाते हैं। अपितु उसके अर्थ-सौन्दर्य को भी बढ़ाते हैं। इसीलिए इनके दो भेद किये गये हैं। (१) शब्दालंकार (२)अर्थालंकार। अलंकारों का सायास प्रयोग होता है, पर भावावेश के कारण जहाँ अलंकार स्वयं सजने लग जाते हैं वहाँ काव्य का सौन्दर्य अपरिमित हो उठता है।

रीति तत्त्व

रीति पदों के सम्यक् संगठन को कहते हैं। कोमल कान्त पदावली के प्रयोग का विधान आदि व्यवहार इसी को सूचित करते हैं। इसके अभाव में

नु काव्य की कल्पना नही की जा सकती । पाश्चात्य कवियो ने भी इसका हत्व स्वीकार किया है । मुख्य रीतियाँ तीन है । गौडी वैदर्भी एव पाञ्चाली ।

गुण तत्व

रस के उत्कर्ष-हेतु-स्थायी-धर्मों को गुण कहा गया है । गुणो का अस्तित्व दोषो के बिना नही है । जिस प्रकार दोषो का न होना मात्र सौन्दर्य नही है, उसी प्रकार दोषाभाव मात्र गुण नही है । बहुत सी पुस्तको मे पहले दोषो का वर्णन है, फिर गुणो का । वाग्भट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है कि दोषो के न रहने पर भी गुणो के बिना शब्द और अर्थ शोभा नही उत्पन्न कर पाते ।

गुणो का सम्बन्ध रस एव रीति दोनो से है । यह रसानुकूल आवेश या माधुर्य उत्पन्न कर काव्य को प्रभावशाली बनाता है । वैसे तो अनेक विद्वानो ने गुणो की संख्या को अनेक प्रकार से वर्णित किया है, परन्तु मुख्य रूप से गुण तीन माने गये है-१ माधुर्य २ ओज, ३ प्रसाद । इन तीनो का सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियो से है ।

१ 'माधुर्य की द्रुति द्रवणशीलता या पिघलने से है ।

२ ओज की दीप्ति से अर्थात् उत्तेजना से है ।

३-प्रसाद का विकास चित्त को प्रसन्न कर देने से है ।

प्रसाद का अर्थ है 'प्रसन्नता' । प्रसाद तो सभी रचनाओ के लिए आवश्यक गुण है ।

छन्द तत्व

छन्द काव्य का शरीर एव परिधान रूप होता है । इसके अभाव मे काव्य का बाह्य रूप ही बिखर जायेगा । छन्द का अनिवार्य तत्व है 'लय' तथा गौण तत्व है 'अनुप्रास' । छन्द का सम्बन्ध न केवल काव्य के बाह्य-रूप से है, अपितु उसकी आत्मा से है । *क्योंकि वह आह्लादन का कार्य भी करता है और काव्य* को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है । साधारणतया काव्य मे तीन प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया जाता है ।

१-वर्णिक-छन्द—जो वर्ण संख्या पर आधारित है ।

२-मात्रिक छन्द—जो मात्रा-गणना पर आधारित है ।

र लिया है—शब्द और अर्थ का साहचर्य । पर यह अर्थ स्वयं 'साहित्य' शब्द ग्रहण नहीं करता । 'साहित्य' में केवल साहचर्य का भाव है किन्तु यह साहचर्य शब्द और अर्थ का ही है, ऐसा किस आधार पर स्वीकार हो ।

उपर्युक्त प्रश्न के समाधान के लिए हमें 'साहित्य' शब्द के इतिहास पर विचार करना होगा । विद्वानों का मत है कि संस्कृत में 'साहित्य' शब्द काव्य परवर्ती है । पहले साहित्य के स्थान पर काव्य का ही प्रयोग होता था । ई-सातवीं शती में 'भामह' ने काव्य की परिभाषा करते हुये लिखा था—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'

अर्थात् शब्द और अर्थ का साथ ही काव्य है । आगे चलकर अन्य आचार्यों ने भी भामह की 'शब्दार्थ-सहित' वाली बात को बार-बार दोहराया है । सम्भवतः प्रयत्न लाघव की प्रेरणा से ही इसी 'शब्दार्थौ सहितौ' का ही संक्षिप्त भावात्मक शब्द 'साहित्य' चल पड़ा हो ।

राजशेखर, भोज एवं कुन्तक आचार्यों ने भी 'साहित्य' की व्याख्या करते समय शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव पर ही बल दिया है ।

राजशेखर—शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या 'साहित्य-विद्या ।'

भोज—किम् साहित्यम् ? यः शब्दार्थयो सम्बन्ध ।

कुन्तक—सहितयोर्भाव साहित्यम् । अनयो शब्दार्थयोर्वाम्

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि संस्कृत के आचार्य 'साहित्य' शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ के साहचर्य-भाव के लिए ही करते रहे हैं ।

दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने यह भी बताया है कि संस्कृत-साहित्य में भामह से पूर्व 'साहित्य' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । इस स्थिति में यह अनुमान कि 'साहित्य' भामह की उक्त परिभाषा शब्दार्थौ सहितौ का संक्षिप्त रूप है, अनुचित नहीं कहा जा सकता । यदि यह अनुमान पूर्णतः ठीक न भी हो तो भी इतना स्पष्ट है कि 'साहित्य' शब्द काव्य का पर्यायवाची रहा है तथा इसका आशय शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव से रहा है । व्यावहारिक दृष्टि से शब्दार्थ के साहचर्य वाली प्रत्येक रचना को साहित्य माना जा सकता है ।

काव्य

साहित्य अपने सकुचित और रूढ़ अर्थ में काव्य का पर्याय बन जाता है
ाहित्य और विज्ञान में जो भेद किया जाता है, वह इसी रूढ़ि के आधार
ाहित्य का व्यापक अर्थ उसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और रूढ़
र्थ रूढ़ि पर अवलम्बित है। व्यापक अर्थ में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना
ा वाचक है, जिसमें कुछ हित या प्रयोजन हो और अपने रूढ़ अर्थ में का
ा भावना-प्रधान साहित्य का पर्याय है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में साहित्य
। विभाग हो जाते हैं–१ काव्य, २ शास्त्र। काव्य रसात्मक होता है और श
ान प्रधान होता है।

कवि और पाठक के भाव-साम्य में ही काव्य की पूर्णता है। कविता च
तनी 'स्वान्त सुखाय' लिखी जाय कवि का परिश्रम तभी सार्थक होता
वकि उसकी कविता का कोई रसास्वाद करेगा। परम्परागत काव्यशास्त्र
ाव्य या साहित्य की शताधिक परिभाषाएँ मिलती हैं। ऐसी स्थिति में इन
किसी एक का चयन करना बहुत कठिन है। भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तु

दण्डी–इष्ट अर्थ से विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है

राजशेखर–गुण और अलकारों से युक्त वाक्य ही काव्य है।

मम्मट–वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हो गुण से मण्डित हो–क
ा कहीं-कहीं अलकार-शून्य भी हो–काव्य है। —काव्य-प्रकाश

विश्वनाथ–रसात्मक वाक्य काव्य होता है। —साहित्य-दर्पण

जगन्नाथ–रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है –रसगंगाधर

यदि हम उपर्युक्त परिभाषाओं पर क्रमश विचार करें तो इनमें कोई ढ
र्वथा निर्दोष एवं पूर्णत. स्पष्ट नहीं होगी।

भामह की परिभाषा–शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है। जितन
ः पर लागू होती है उतनी ही शास्त्र, इतिहास, भूगोल या मौखिक बातों
पर। जहाँ भी सार्थक भाषा का प्रयोग होता है–वहाँ शब्द और अर्थ दोनों
मेल या साहचर्य देखा जा सकता है, अत इस परिभाषा के आधार पर काव्य
र अकाव्य में कोई निर्णय नहीं हो सकता है।

इस प्रकार कोई भी परिभाषा पूर्ण निर्दोष नही ठहरती है। आचार्य विश्व-
। एव प० जगन्नाथ ने क्रमश: रसात्मकता एव रमणीयता को काव्यत्व का
गार माना है, किन्तु ये दोनो गुण भी अनिश्चित एव अस्पष्ट हैं। एक
क व्यक्ति के लिये प्रेयसी के द्वारा उच्चरित कुछ शब्द भी रसात्मक एवं
णीय हो सकते हैं, किन्तु इसी से उन्हें हम काव्य की सज्ञा से विभूपित नही
सकते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भामह से लेकर पडितराज जगन्नाथ
के काव्य की परिभाषा मे क्रमिक-विकास तो दृष्टिगोचर होता है, किन्तु
मे सर्वथा निर्दोष कोई भी नही है।

उपर्युक्त भारतीय विद्वानो के मतो के पश्चात् कुछ पाश्चात्य विद्वानो द्वारा
स्तुत विचारो का अध्ययन भी आवश्यक है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ

अरस्तू—भाषा के माध्यम से होने वाली अनुकृति काव्य है।

सिडनी—काव्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और
आनन्द प्रदान करना है।

कॉलरिज—काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक
लक्ष्य ज्ञान प्रदान करना न होकर प्रसन्नता प्रदान करना होता है।

शेली—काव्य सर्वाधिक सुखी एव श्रेष्ठतम् हृदयो के श्रेष्ठतम् क्षणो का
लेखा जोखा है।

हैजलिट—काव्य कल्पना और भावो की भाषा है।

उपर्युक्त परिभाषाओ मे से प्रथम तीन मे 'अनुकृति' पर विशेष बल दिया गया है जिसके पीछे अरस्तू के 'अनुकृति-सिद्धान्त' की प्रेरणा परिलक्षित होती है। अरस्तू के बाद क्रमशः सिडनी, कालरिज, आदि विद्वानो की परिभाषाएँ सामने आयी, परन्तु वे स्वय मे एक भी निर्दोष नही रही।

काव्य की पूर्णता के लिये पाठक भी उतना ही आवश्यक है जितना कि कवि। कवि, पाठक तथा काव्य के विषय तीनो ही देशकाल के बधन से मुक्त होकर पारस्परिक साम्य के विधायक होते है। इन सब बातो को एक परिभाषा

लग जाता है तब हम उनसे यह कहते हैं कि भाई तुमतो कविता करने लगे। कविता से पद्यात्मक साहित्य का बोध होता है। किन्तु 'काव्य' शब्द पूरे विना समान गद्य-पद्यात्मक साहित्य का बोधक होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि पद्य में गद्य की अपेक्षा श्रुति-माधुर्य अधिक होता है और इस कारण उसमें प्रभावोत्पादकता भी आ जाती है, तथापि पद्य छन्द-मात्र होने से कोई भी रचना कविता या काव्य नहीं बन जाती है। पद्य को अंग्रेजी में Verse कहते हैं Poetry या कविता नहीं। पद्य का आकार मात्र कहा जा सकता है इसकी आत्मा 'रस' ही है।

साहित्य' शब्द काव्य की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, व्यापक एवं मान्य है। साहित्य के अन्तर्गत काव्यग्रन्थों का भी समावेश हो जाता है, जबकि काव्य में साहित्य का समावेश आंशिक रूप में होता है।

साहित्य के व्यापक अर्थ में काव्य और शास्त्र दोनों ही आ जाते हैं। रस-प्रधान साहित्य काव्य कहलाता है। और ज्ञान प्रधान साहित्य जिसमें बुद्धि और नियम का शासन होता है, शास्त्र (Science) कहलाता है। जीवन की पूर्णता दोनों के अनुशीलन में है।

'काव्य-शास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।'

साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। उसे सम्पूर्णता में ग्रहण कर अभिव्यक्त करना थोड़ा कठिन है। अत: समस्त मतों को दृष्टिकोण में रखकर कह सकते हैं—**साहित्य जीवन और जगत् के गत्यात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झाँकी है जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है।** वास्तव में साहित्य भी ज्ञान के सदृश एक अखण्ड सत्ता है, जिसकी अभिव्यक्ति खण्डों में हो पाती है। इन्हीं खण्डों को विविध अभिधान दे दिये गये हैं, जो कभी काव्य तथा कभी शास्त्र के नाम से प्रसिद्धि पाते हैं।

कल्पना

यह शब्द संस्कृत की 'क्लृप्' धातु से निर्मित है।

व्युत्पत्ति

'कल्पना' का सम्बन्ध 'कल्पनम्' से है जिसका अर्थ होता है—रचना या

बनाना । इसी के आधार पर कल्पना के अनेक अर्थ प्रचलित हैं। कल्पना का अंग्रेजी पर्याय (Imagination) माना गया है । आज आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में 'कल्पना' का प्रयोग वस्तुतः आंग्ल 'इमेजिनेश' के समानार्थक शब्द के रूप में होता है ।

परिभाषा

'कल्पना की परिभाषा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न शब्दों में की है किन्तु सामान्यत उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें परस्पर मतैक्य है । उदाहरणार्थ कुछ विद्वानों द्वारा निर्मित परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

मेकडूगल—हम भली भाँति यह परिभाषा कर सकते हैं कि कल्पना अप्रत्यक्ष वस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन है ।

वुडवर्थ—कल्पना एक मानसिक कौशल है ।

ई० जी० बोल—कल्पना अपने सरलतम रूप में एक ऐसी शक्ति कही जा सकती है, जो कि पूर्व-अनुभवों की प्रतिलिपि पुनरुत्पादित करती है ।

अस्तु जहाँ तक इन परिभाषाओं का सम्बन्ध है, **'कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो कि वस्तुओं की अनुपस्थिति में या अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में चिन्तन-मनन करती है ।'** इस परिभाषा में उपर्युक्त परिभाषाओं का प्रतिनिधित्व हो जाता है ।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके विभिन्न भेदोपभेद भी निर्धारित किये हैं —

कल्पना
- ग्रहणात्मक (Recptive)
- (Creative) सर्जनात्मक
  - व्यवहारोन्मुख
  - सौन्दर्योन्मुख
    - व्यावहारिक
    - कलात्मक
    - स्वच्छन्द विचरण
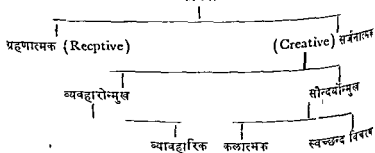
सामान्य कल्पना के दो भेद किये जाते है—(१) ग्रहणात्मक (२) सर्जनात्मक। **किसी वर्णित विषय को जिस कल्पना शक्ति से हम ग्रहण करते हैं वह ग्रहणात्मक कल्पना है।** जबकि हम जिस शक्ति से नये विषय का वर्णन करते है वह सर्जनात्मक कल्पना मानी जाती है। इसके भी दो भेद किये गये हैं। १—व्यवहारोन्मुख (व्यवहारोन्मुख के दो भेद—सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक) २—सौन्दर्योन्मुख (इसके दो भेद—कलात्मक एवं स्वच्छन्द) विचरणात्मक सैद्धान्तिक कल्पना के द्वारा हम विभिन्न प्रकार के नये सिद्धान्तो एवं नियमो की खोज करते है, जबकि व्यावहारिक कल्पना का योग उन सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देने मे—योजनाएँ तैयार करने मे किसी काम के करने के उपाय आदि ढूँढने मे करते है। कलात्मक कल्पना के द्वारा कला-सृष्टि होती है तथा स्वच्छन्द विचरणात्मक के द्वारा दिवा स्वप्न का निर्माण होता है।

गतिशील चिन्तन को हम चाहे *विशुद्ध-कल्पना* न कहे, किन्तु उसमे कल्पना का बहुत बड़ा योग रहता है। इसमे कोई सन्देह नही, साहित्यसर्जन मे सौन्दर्योन्मुख कलात्मक कल्पना का उपयोग है।

साहित्य एवं कल्पना

यद्यपि प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे कल्पना की चर्चा कवि की विशिष्ट सर्जना क्षमता या प्रतिभा-शक्ति के रूप मे समय-समय पर होती है, किन्तु उसे साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आधुनिक युगीन स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारो को है। साहित्य के सर्जन मे कल्पना कई रूपो मे योग-दान करती है। जिसे इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

योगदान के रूप–१—द्रव्य का चेतन स्तर पर प्रस्तुतीकरण।

२—द्रव्य का विस्तार।

३—नये द्रव्य का आविर्भाव।

४—द्रव्य को अनुभूति गम्य बनाना।

५—देशकाल एवं व्यक्ति के सम्बन्धो से मुक्ति।

साहित्यकार जिस द्रव्य-सामग्री (भाव और विचार) का उपयोग साहित्य मे करता है, वह प्राय. उसके अवचेतन एवं अचेतन स्तर पर सस्कारो, बिम्बो एवं

प्रत्ययों के रूप में विद्यमान रहती है। साहित्य-सृजन के लिये इस द्रव्य को चेतन स्तर पर लाना आवश्यक है। यह कार्य स्मृति और कल्पना दोनों के द्वारा सम्पादित हो सकता है किन्तु साहित्यिक-रचना में स्मृति की अपेक्षा कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री ही अधिक उपयुक्त होती है।

कल्पना-शक्ति द्रव्य को न केवल प्रस्तुत करती है, अपितु वह उसका विश्लेषण करती हुई उसे विस्तृत रूप भी देती है। जैसे-किसी भी युवक या युवती का 'नख-शिख-वर्णन' भले ही उसके बारे में विस्तृत ज्ञान न हो।

कल्पना प्राप्त द्रव्य को विस्तृत रूप प्रदान करती है, किन्तु इतना ही नहीं वह उस द्रव्य में स्वनिर्मित द्रव्य या नये द्रव्य का सयोग या मेल करती है। एक घटना के बाद अगली घटना क्या होगी, या क्या हो सकती है, इसका निर्देशक कल्पना-शक्ति ही करती है।

कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह प्राय. अनुभूतिगम्य होती है, जहाँ मस्तिष्क की अन्य शक्तियाँ बुद्धि, स्मृति आदि अनुभवो को तथ्यों और विचारों के रूप में प्रस्तुत करती हैं, किन्तु वे सहज ही अनुभूति-गम्य नही होते, जबकि कल्पना उन्हें मुख्यत बिम्बों या सजीव चित्रों या अनुभूतिगम्य शब्दों में व्यक्त करती है ।

कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री सामान्यत देश-काल एव व्यक्ति के सम्बन्ध से मुक्त होती है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री स्मृत तथ्यो की भाँति तथा यथातथ्य एव देश-काल की सीमाओं से बँधी नही रहती। इसीलिये वह सर्व सामान्य के लिये रुचिकर एव स्वीकार्य बन पाती है। कल्पना साधारणीकरण भी करती है, जिससे साहित्य में प्रस्तुत अनुभूतियाँ एक व्यक्ति की अनुभूतियाँ न रहकर सर्वसाधारण की अनुभूतियाँ बन जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि कल्पना-शक्ति साहित्य की शेष (भाव-विचार) को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसका विस्तार, अभिवृद्धि, रूपपरिवर्तन और साधा ...रीकरण भी करती है। इसीलिये अनेक पाश्चात्य आलोचकों ने कल्पना को ...य की आदि शक्ति या उसकी आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। निश्चय ...ना-शक्ति साहित्य को ऐसा आकर्षक रूप प्रदान करने में सहायक सिद्ध

ती है जिससे कि पाठक को प्रसन्नता एव आनन्द की अनुभूति प्राप्त हो सके। सी स्थिति में कल्पना को सरस साहित्यिक-कल्पना कहा जा सकता है, न्यथा नहीं।

ल्पना का महत्व

कल्पना प्रतिभा या शक्ति के सहारे भावोद्रेक अर्थात् नये भावों का उदय ती है और भाव ही अन्तर्वृत्ति को परिचालित करते हैं। इस प्रकार कल्पना य रूप विधानों का सृजन करती है। ये ही रूप विधान काव्य का बाह्य कार उपस्थित करते हैं अतः कल्पना काव्य की सृजन-शक्ति होती है।

—

५ | शब्द-शक्तियाँ

सामान्य परिचय

प्रत्येक कार्य किसी न किसी शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। यह विश्व का अटल नियम है इसी नियम के अनुसार शब्द भी अपना कार्य अर्थात् बोध कराना आदि कार्य जिस शक्ति के द्वारा सम्पादित करता है, उसे शब्द की शक्ति या शब्द-शक्ति कहते हैं।

शक्ति की परिभाषा--अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध करना चाहिए इस संकेत का नाम 'शक्ति' है। (अस्मात् पदात् अयमर्थोबोद्धव्य, इति संकेत शक्ति) भारतीय काव्य शास्त्रियों ने भी इसी आधार पर शब्द-शक्तियों की स्थापना की है। इस 'शब्द-शक्ति' के रूप तथा प्रकार-भेदों के बारे में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। सामान्यतः शब्द-शक्तियों के तीन प्रकार माने गये हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, किन्तु इनके अतिरिक्त 'तात्पर्य' 'भावना' 'भोजक' शक्तियों की कल्पना अन्य आचार्यों द्वारा की गई है। कतिपय आचार्य 'लक्षणा' और 'व्यंजना' के अस्तित्व का विरोध करते हैं, तो दूसरी ओर व्यंजनादि के मानने वालों में से कुछ विद्वानों ने 'तात्पर्य' शक्ति को अनावश्यक माना है। शेष दो 'भावना' और 'भोजक' का भी अन्तर्भाव व्यंजना में ही कर लिया गया है। इस प्रकार प्रमुख तीन ही शब्द शक्तियाँ हैं।

शब्द और अर्थ का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। जिस प्रकार जल के बिना लहर की और लहर के बिना जल की कल्पना हो नहीं की जा सकती उसी प्रकार शब्द-विहीन अर्थ और अर्थ-हीन शब्द का अस्तित्व ही नहीं होता। कवि कालिदास ने इसीलिए शिव-पार्वती का साहचर्य शब्द और अर्थ की अभिन्नता के समान बतलाया है।

> 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
> जगत. पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥' —रघुवंश ।१।१

शब्द के तीन भेद होते हैं--वाचक, लक्षक और व्यंजक।

१. वाचक-शब्द--जो शब्द साक्षात् सांकेतिक अर्थ को प्रकट करता है उसे चक शब्द कहा जाता है। इसके चार भेद-जातिवाचक, गुणवाचाक, क्रियावाचक ौर द्रव्य-वाचक होते है।

२ लक्षक-शब्द--जिन शब्दों का मुख्यार्थ से भिन्न, लक्षणा शक्ति द्वारा अन्य र्थ लक्षित होता है, उन्हें लक्षक शब्द कहते हैं।

३. व्यंजक-शब्द--जिन शब्दों में व्यंग्यार्थ का बोध होता है वे व्यंजक ब्द कहे जाते हैं और अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है।

शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण के आधार

यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भेद शब्दों के नहीं, वरन् शब्द की उपाधियों या शक्तियों के होते हैं, क्योंकि एक ही शब्द वाचक भी होता है, लक्षक भी व्यंजक भी। इन्हीं शब्द में भेदों के अनुसार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, और व्यंग्यार्थ। इन तीन प्रकार के अर्थों का बोध कराने वाली शक्तियाँ शब्द-शक्तियाँ कहलाती हैं। इन्हीं का वर्गीकरण सम्भव है। विद्वानों ने यह निश्चय किया कि अर्थ का ज्ञान कराने वाली शब्द की शक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं, जिनका वर्गीकरण निम्नलिखित आधार पर किया जाता है--

१. अर्थ की सामान्यता या विशिष्टता

२ सामान्य (वाच्यार्थ) और विशिष्ट अर्थ (लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ) का पारस्परिक सम्बन्ध

३. अर्थ के क्षेत्र (शब्द या वाक्य या प्रसंग) की व्यापकता।

इन आधारों पर आगे वर्गीकरण किया गया है।

शब्द-शक्तियों के वर्गीकरण

शब्द-शक्तियाँ तीन है--

१. अभिधा २ लक्षणा ३ व्यंजना

अभिधा

जिस शब्द-शक्ति से साक्षात् सांकेतिक (सांकेतित) या मुख्य अर्थ का बोध होता है, उसे 'अभिधा' शक्ति कहते है--

'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।'

अभिधा शब्द शक्ति से संकेतित अर्थ का ग्रहण निम्नलिखित प्र
होता है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
—न्याय सिद्धान्त मुक्तावली

अर्थात् १ व्याकरण २ उपमान ३ कोश ४ आप्तवाक्य ५ व्य
६ प्रसिद्धपद का सान्निध्य ७ वाक्य शेष और ८ विवृति। इन आठ
से संकेत अर्थ का ग्रहण होता है।

अभिधा के सहयोगी एवं प्रेरक तत्त्व

१ व्याकरण से—व्याकरण के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति-प्रत्यय के
अर्थ का सहज ही भान हो जाता है। जैसे मोहार, मोहारिन।

२ उपमान से—उपमान का अर्थ है—समानता। यदि किसी को यह ज्ञ
कि भीम बहुत खाता था तो किसी के यह कहने पर कि 'राम भीम के
खाता है' श्रोता तुरन्त समझ जायेगा कि राम बहुत खाऊ वीर है।

३ कोश से—यदि कहा जाय कि (देवासुर-संग्राम) में निर्जरों ने
पाई तो कोश के द्वारा ज्ञात होगा कि 'निर्जर' का अर्थ देवता है—
निर्जरा देवा'।—अमरकोश

४. आप्तवाक्य से—आप्त का अर्थ है-प्रामाणिक या लोक-प्रसिद्ध
जैसे किसी बालक को बता दिया जाये कि यह राम का चित्र है तो व
की प्रतिकृति का संकेत उस चित्र में समझ लेता है। इसी प्रकार आप्तवा
कारण ही वेद पुराण एवं स्मृति आदि के विवरण प्रामाणिक माने जाते हैं

५ व्यवहार से—व्यवहार ही वस्तुओं और उनके वाचक का सम्बन्ध
प्रमुख तथा व्यापक कारण है। जैसे—यदि किसी मनुष्य को गाय
कहा जाये और वह गाय ले आए तो उसे देखकर बालक को
हो जाता है कि इस प्रकार के प्राणी को गाय कहते हैं।

६. प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से—प्रसिद्ध पद अथवा शब्द के साथ

ष्टित अर्थ का बोध होता है। जैसे मधुकर भौंरा और मधु-मक्खी दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। यदि कमल का सान्निध्य है तो 'भौंरा' अर्थ लिया जायेगा।

७ वाक्य शेष—ज्ञात अर्थ वाले पद की सहायता से अज्ञात अर्थ वाले पद का भी अर्थ ज्ञात हो जाता है। जैसे 'उमापति' का अर्थ महादेव (उमा पति)।

८ विवृति से—विवृत या अर्थ व्याख्या विवरण टीका है। किसी शब्द की व्याख्या करने पर उसका अर्थ ज्ञात हो जाता है।

परिभाषा

अभिधा की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने इसे 'शब्द के मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति' या 'साक्षात संकेतित अर्थ का बोधक व्यापार' अथवा संकेतित अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति कहा है। परन्तु इन तीनों परिभाषाओं में इस शक्ति का सम्बन्ध क्रमशः शब्द के मुख्य अर्थ एवं साक्षात संकेतित अर्थ से माना जाता है। तीनों धारणाएँ मूल परिभाषा को स्पष्ट, निश्चित, एवं प्रामाणिक रूप देने में बाधक सिद्ध होती हैं। अतः परिभाषा का रूप इस प्रकार दिया जा सकता है—

"भाषा की जिस शक्ति से शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ का बोध होता है वह अभिधा-शक्ति कही जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषा में 'मुख्य संकेतित अर्थ' के स्थान पर 'सामान्य प्रचलित अर्थ' तथा 'संकेतित' के स्थान पर 'बोध' का प्रयोग किया गया है जो मूल शब्दों की भाँति अनिश्चित नहीं है। अतः यह परिभाषा उपयुक्त है।

अभिधा के अवयव

अभिधा के द्वारा जिन शब्दों का अर्थ-बोध होता है उन्हें 'वाचक' शब्द कहते हैं। ये 'वाचक शब्द' भी भारतीय आचार्यों द्वारा तीन प्रकार के माने गये हैं।

१ रूढ़ि शब्द—जिनकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती (पेड़, पत्ता⋯)

२ यौगिक शब्द–प्रकृति और प्रत्यय का योग होता है, जैसे सहायक
=सहायक=सहायता करने वाला।

३ योग रूढ़–गणनायक, मृगनयनी आदि।

योग रूढ़—जो शब्द यौगिक होते हुए भी अर्थ विशेष मे रूढ़ होते है, उन्हें योगरूढ़ कहते है। यथा–पकज (पक+ज) यहाँ 'पक' का अर्थ 'कीचड़' और 'ज' का अर्थ 'उत्पन्न' होता है, किन्तु कीचड़ से कमल ही नहीं, घोंघे आदि पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं, पर सभी को 'पकज' नही कहते, कमल को ही कहते हैं।

अवयवों का यह वर्गीकरण अभिधा के तीन स्रोतों का निर्देश करता है, अर्थात् किसी शब्द का वाच्यार्थ पूर्वजों से सीखकर या घटक तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धो से या दोनो के समन्वित रूप से ग्रहण करते हैं।

अभिधा-शक्ति का महत्व

साहित्य मे 'अभिधा' शक्ति का वडा महत्व माना जाता है। साहित्य दर्पणकार ने इसीलिए सम्भवत इसे 'अभिधा शक्ति' कहा है। बहुत से साहित्यशास्त्रियो ने अभिधा से 'लक्षणा' को भिन्न नही माना है। नैय्यायिक लोग तो वाच्यार्थ के सम्बन्ध को ही लक्षणा मानते है।[1] आचार्य शुक्ल ने वाच्यार्थ के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा—"यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी योग्यता या उपपन्नता को पहुँचा हुआ, समझ मे आने योग्य रूप मे अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यजना द्वारा अर्थ-बोधक वन जाता है।"

लक्षणा

प्राचीन आचार्यों ने लक्षणा की परिभाषा सामान्यत इस प्रकार की है—"मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं।"

---

१. 'शक्य सम्बन्धो हिलक्षणा'

मुख्यार्थबाधे तद्योगे ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढे. प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥ —सा० दर्पण प०।२।५॥

…शेषताएँ

इसी उपर्युक्त परिभाषा के विश्लेषण से लक्षणा-शक्ति की तीन विशेषताएँ …त होती है—

१ लक्षणा शक्ति मे शब्द के वाच्यार्थ या मुख्यार्थ मे बाधा उपस्थित हो …ती है या वाच्यार्थ वहाँ अपने प्रचलित अर्थ मे प्रस्तुत नही रहता, परिवर्तित … जाता है ।

२. लक्षणा से प्राप्त लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से सम्बन्धित होता है । अर्थात् …ों मे कोई न कोई सम्बन्ध बना रहता है ।

३. लक्षणा-शक्ति के पीछे किसी विशेष रूढि या वक्ता के किसी विशेष …जन की प्रेरणा अवश्य रहती है ।

लक्षणा के उपर्युक्त तीनो लक्षणो को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है ।

…क्षणाशक्ति का उदाहरण—१ तुम्हारा नौकर बिल्कुल गधा है (लक्षणा)

२ तुम्हारा नौकर बिल्कुल गधे जैसा है (अभिधा)

…अत. उपर्युक्त प्रयोगो मे शब्द के वाच्यार्थ की रोप वाक्य के अर्थ मे अस-…त होने के कारण इन्हे नये अर्थो मे ग्रहण करना पड़ता है । गधे—गधे जैसी …दि वाला अर्थ यदि दोनों पदो की तुलना करे तो यह तथ्य विदित होगा कि … उनमे अर्थ-बोधक कुछ शब्दो की न्यूनता है जैसा विशिष्ट शब्द जोड़ …ने के कारण यह लाक्षणिक न रहकर अभिधात्मक बन गया है साथ ही इनके …र्थ मे सन्निहित विशेष चमत्कार का लोप हो गया है । इस न्यूनता या रिक्तता …की पूर्ति श्रोता को अनुमान या कल्पना के बल पर करनी पड़ती है और इस …नुमान या कल्पना के कारण ही अर्थ मे चमत्कारिकता आती है

…क्षणा के भेद

मुख्य रूप से लक्षणा के दो भेद किये जाते है—रूढिलक्षणा प्रयोजनवती …क्षणा ।

रूढिलक्षणा—जिस लक्षणा मे रूढि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे

सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय, उस स्थान पर रूढ़िलक्षणा होती है। जैसे-'पाकिस्तान' लड़ता है। इस वाक्य में रूढ़ि के कारण 'पाकिस्तान' शब्द का अर्थ 'पाकिस्तान मे रहने वाले व्यक्तियो' से लिया जाता है। यह रूढि लक्षणा का उदाहरण हुआ। इस 'रूढ़ि लक्षणा' के भेद नहीं हुए। कुछ आचार्यों ने इसके भी भेदो का उल्लेख किया है।

प्रयोजनवती लक्षणा--जहाँ मुख्यार्थ का बोध होने पर किसी विशेष प्रयोजन के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। साहित्यदर्पणकारो ने इसके ८० भेद माने हैं--'उदित उदय गिरिमच पर रघुवर बाल पतग' रघुवर बाल पतग' लक्षण है।

१ **उपादान लक्षणा**--जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। यथा-

'काक से रक्षा करो दधि की, रहो तुम सावधान।'

यहाँ 'काक' शब्द दही के उपघातक मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वह अपना अर्थ भी बनाये हुए है।

२ **लक्षण-लक्षणा**--जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़ कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करता है वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। यथा-'गगा मे घर' यहाँ 'गगा' पद अपने 'जलधार' अर्थ को छोड़कर केवल 'गगातट' अर्थ का बोध करता है।

३ **सारोपा लक्षणा**--जिस लक्षणा में आरोप हो, आरोप्य-भाव (विषय) और आरोप का विषय इन दोनो की शब्द द्वारा उक्ति हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। 'आज भुजगो से बैठे हैं वे कचन के घड़े दबाए।' वे (पूँजीपति) विषयी और विषय दोनो ही शब्दो द्वारा उक्त हैं।

४ **साध्यवसाना लक्षणा**--जिस लक्षणा मे आरोप का विषय लुप्त रहे, अर्थात् शब्दो के द्वारा प्रकट न किया जाये और विषयी द्वारा ही उसका कथन हो ाध्यवसाना लक्षणा होती है। यथा---'देखो विधु मुसकाया।' यहाँ मुख मे 'विधु' का आरोप किया गया है, जो कि लुप्त है। इस साध्यवसाना लक्षणा' हुई।

व्यंजना-शक्ति

(वि+अज्+ल्युट्+टाप्)

विभिन्न आचार्यों ने व्यजना-शक्ति की विभिन्न परिभाषाएँ दी है जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं।

आचार्य मम्मट—"अनेक अर्थ वाले शब्द का जब संयोगादि के द्वारा वा करव नियत हो जाता है, तब भी उस शब्द के किसी और अर्थ का ज्ञान है, वैसे ज्ञान के उत्पन्न करने वाले व्यापार का नाम व्यंजना है। आचार्य वि नाथ की परिभाषा भी कुछ ऐसी ही है।[1]

पं० रामचन्द्र शुक्ल—"व्यजना शक्ति ऐसे अर्थ को बतलाती है जो अभि लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति द्वारा उपलब्ध नही होता।"

यदि उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान दें तो एक बात स्पष्ट रूप में प्र होगी कि इनमें व्यजना की बहिरंग विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया। यदि हम अभिधा और लक्षणा के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए व्यंजना लक्षणों पर विचार करें, तो हमें निम्नलिखित तीन विशेषताएँ ज्ञात होंगी।

विशेषताएँ

१. जहाँ अभिधा मे एक साथ एक ही अर्थ विद्यमान रहता है तथा लक्ष मे एक अर्थ अन्य अर्थ मे परिणत हो जाता है, वहाँ व्यजना में एक सा अर्थ विद्यमान रहते हैं तथा इस दूसरे अर्थ को जो कि वाच्यार्थ के अति होता है—व्यंग्यार्थ कहते हैं।

२ जहाँ लक्षणा में वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ मे परस्पर सम्बद्ध होते हैं व एक दूसरे के पूरक एवं सहायक होते हैं, वहाँ व्यंजना मे दोनों अर्थ (वा एवं व्यंग्यार्थ) एक दूसरे से असम्बद्ध या स्वतन्त्र होते हैं।

---

१ अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर 'अभिधा' एवं 'लक्षणा' नामक श ... के विरत हो जाने पर, जिस शब्द-शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। —सा० दर्पण। प० २। श्लो०

शाब्दी व्यंजना—जहाँ व्यंग्यार्थ किसी विशेष शब्द के आधार पर अवलम्बित हो, अर्थात् उस व्यंजक के स्थान पर उसका समानार्थक शब्द रख देने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो, उसे 'शाब्दी-व्यंजना' कहते हैं।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना—अनेकार्थी शब्दों का 'संयोग' आदि के द्वारा एक अर्थ निश्चित हो जाने पर जिस शब्द-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे 'अभिधामूला शाब्दी व्यंजना' कहते हैं। नियन्त्रित करके एक अर्थ का बोध कराने वाले कारण ये हैं —

१–संयोग, २–वियोग, ३–साहचर्य, ४–विरोध, ५–अर्थ, ६–प्रकरण, ७–लिङ्ग, ८–अन्य सन्निधि, ९–सामर्थ्य, १०–औचित्य, ११–देश, १२–काल, १३–व्यक्ति, १४–स्वर आदि। यथा –

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥
>
> (सा० दर्पण। प०। २ श्लो०–१५)

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना–जिस प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है उस प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शब्द-शक्ति को लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। वह मनुष्य नहीं निरा उल्लू है। यहाँ 'उल्लू' शब्द से महामूर्ख व्यंजित है और यह शब्द गुणकृत सादृश्य के आधार पर लाक्षणिक है।

आर्थी व्यंजना–वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टादि के वैशिष्ट्य से जिस शब्द-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं।

(सा० दर्पण। प० २ श्लोक १६-१७)

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना

विवेचित शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कतिपय शीर्षकों में तुलनात्मक अध्ययन निम्न दृष्टियों से है

अन्तर है।

१. स्रोत की दृष्टि से।
२. अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से।
३. अर्थ-संख्या की दृष्टि से।
४. कार्य क्षेत्र की दृष्टि से।
५. प्रकार की दृष्टि से।

स्रोत की दृष्टि से

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—तीनों का ही निवास सामान्यतः भाषा में होता है, किन्तु इनके मूल अर्थ के स्रोत में परस्पर भेद है। अभिधा की आधारभूमि 'परम्परा' है। प्रत्येक नये प्रयोग भी जब आगे चलकर रूढ़ हो जाते हैं, तो वह अभिधात्मक बन जाते हैं। लक्षणा का स्रोत रूढ़ि और प्रयोजन में माना है, किन्तु रूढ़िबद्ध प्रयोगों को हमने अभिधा के अन्तर्गत स्थान देते हुए केवल विशेष प्रयोजन से सम्बद्ध प्रयोगों को ही लक्षणा के रूप में माना है। अतः लक्षणा के मूल में आशय सन्निहित है। लक्षणा की ही भाँति व्यंजना के पीछे भी वक्ता का विशेष प्रयोजन या विशेष आशय होता है। अभिधा की भाँति सामान्य परिस्थितियों में व्यंजना उद्दीप्त नहीं होती। व्यंजना के स्रोत में 'भावातिरेक' की भूमि पुष्ट होती है। वक्ता अपने भावातिरेक को या प्रयोजन-वैशिष्ट्य को छिपाने या नियंत्रित करने का प्रयास करता है। व्यंजना में बौद्धिक-कौशल द्वारा अपने आशय को अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से

सूक्ष्म-अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से *अभिधा का सम्बन्ध सामान्य, स्थिर एवं* निश्चित अर्थ से होता है, जबकि शेष दोनों से सम्बन्ध अथ, असामान्य (विशिष्ट) अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं।

अर्थ-संख्या की दृष्टि से

अभिधा जहां सर्वत्र एक समय एक ही अर्थ को सूचित करती है, वहां लक्षणा में दो अर्थ रहते हैं, किन्तु इनमें एक अर्थ (वाच्यार्थ) अधूरा होता है, जिसकी पूर्ति द्वितीय अर्थ से होती है। व्यंजना में एक साथ दो या दो से अधिक

अर्थ रहते हैं तथा वे दोनों अर्थ अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र होते हैं।

कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के कार्य-क्षेत्र में भी परस्पर महत्त्व अन्तर है। अभिधा का कार्य-क्षेत्र शब्दों से आरम्भ होता है, अर्थात् अलग-अलग शब्दों से जो अर्थ हम प्राप्त करते हैं वह उनका अभिधापरक अर्थ ही होता है। इसके विपरीत लक्षणा शक्ति अकेले शब्द में कभी लक्षित नहीं होती। जब अनेक शब्दों का संगठन वाक्य या उक्ति के रूप में होता है, तब ही विशेष परिस्थिति में लक्षणा उद्दीप्त होती है। इस प्रकार लक्षणा का क्षेत्र वाक्य है। व्यंजना का क्षेत्र लक्षणा से भी अधिक व्यापक है। इसकी उद्दीप्ति अकेले वाक्य में न होकर वाक्य-समूह या प्रकरण के क्षेत्र में होती है। अतः व्यंजना का क्षेत्र प्रकरण-क्षेत्र से लेकर प्रबन्ध-योजना तक माना जा सकता है।

प्रभाव की दृष्टि से

प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक है। अभिधा में कथन-शैली सामान्य रहती है, अतः उसका अपना कोई विशेष प्रभाव या आकर्षण नहीं होता—उसमें केवल कथ्य की विशिष्टता और मार्मिकता का ही आकर्षण रहता है। इसके विपरीत लक्षणा और व्यंजना में शैलीगत आकर्षण रहता है। लक्षणा और व्यंजना के आकर्षण में भी परस्पर थोड़ा अन्तर है। लाक्षणिक प्रयोगों के पीछे स्वच्छन्द भावावेग रहता है अतः उसमें भावात्मक आकर्षण की मात्रा अधिक रहती है, जबकि व्यंजना में भावातिरेक पर बौद्धिक नियन्त्रण रहने के कारण उसमें बौद्धिकता से युक्त भावात्मक आकर्षण रहता है। वस्तुतः प्रभाव की दृष्टि से इन तीनों शक्तियों का उत्तरोत्तर अधिक महत्व है।

इस प्रकार शब्द-शक्तियों का विकासात्मक, रचनात्मक एवं तुलनात्मक प्रस्तुत किया गया है।

• :— कुछ आचार्यों ने 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यंजना' के अतिरिक्त ृत्ति' के नाम से एक अतिरिक्त शब्द-शक्ति मानी है, क्योंकि उनके ', लक्ष्यार्थ, और व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त 'तात्पर्यार्थ' भी होता है।

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना

तुलना या दृष्टिकोण	अभिधा	लक्षणा	व्यंजना
१- अर्थ के स्रोत की दृष्टि से	परम्परा	भावातिरेक जन्य प्रयोग	बुद्धि नियन्त्रित भावात्मक प्रयोग
२- अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से	सामान्य स्थिर निश्चित	विशिष्ट अस्थिर दूरारूढ	विशिष्ट, क्षणिक दुरूह
३- अर्थ / संख्या की दृष्टि से	एक	[illegible]	२ या दो अधिक
४- कार्य / क्षेत्र की दृष्टि से	शब्द से लेकर सामान्य प्रसंग योजना तक	विशिष्ट वाक्य से लेकर प्रसंग तक	विशिष्ट प्रसंग से लेकर प्रबन्ध तक
५- आकर्षण-भेद की दृष्टि से	द्रव्यगत आकर्षण	भावात्मक आकर्षण	बौद्धिकता समन्वित भावात्मक आकर्षण
६- प्रभाव की दृष्टि से	न्यूनतम प्रभाव	गम्भीर प्रभाव	अधिक गम्भीर प्रभाव

अर्थ रहते हैं तथा वे दोनो अर्थ अपने आप में पूर्ण एवं स्वतन्त्र होते हैं।

कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से

अभिधा, लक्षणा और व्यजना के कार्य-क्षेत्र मे भी परस्पर गहरा अन्तर है। अभिधा का कार्य-क्षेत्र शब्दो से आरम्भ होता है, अर्थात् अलग-अलग शब्दों से जो अर्थ हम प्राप्त करते है वह उनका अभिधात्मक अर्थ ही होता है। इसके विपरीत लक्षणा शक्ति अकेले शब्द में कभी सक्रिय नही होती। जब शब्द या शब्दो का सगठन वाक्य या उक्ति के रूप मे होता है तब ही विशेष परिस्थिति मे लक्षणा उद्दीप्त होती है। इस प्रकार लक्षणा का क्षेत्र वाक्य है। व्यजना का क्षेत्र लक्षणा से भी अधिक व्यापक है। उसकी उद्दीप्ति अकेले वाक्य मे न होकर वाक्य-समूह या प्रकरण के क्षेत्र मे होती है। अतः व्यजना का क्षेत्र प्रसग-क्षेत्र से लेकर प्रबन्ध-योजना तक माना जा सकता है।

प्रभाव की दृष्टि से

प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यजना का महत्व उत्तरोत्तर अधिक है। अभिधा मे कथन-शैली सामान्य रहती है, अत उसका कथन में विशेष प्रभाव या आकर्षण नही होता—उसमे केवल कथ्य की विशेषता और मार्मिकता का ही आकर्षण रहता है। इसके विपरीत लक्षणा और व्यजना मे शैलीगत आकर्षण रहता है। लक्षणा और व्यजना के आकर्षण मे भी परस्पर थोडा अन्तर है। लाक्षणिक प्रयोगो के पीछे स्वच्छन्द भावावेग रहता है अतः उसमे भावात्मक आकर्षण की मात्रा अधिक रहती है, जबकि व्यजना मे भावातिरेक पर बौद्धिक नियत्रण रहने के कारण उसमें बौद्धिकता से युक्त भावात्मक आकर्षण रहता है। वस्तुत प्रभाव की दृष्टि से इन तीनो शक्तियो का उत्तरोत्तर अधिक महत्व है।

इस प्रकार शब्द–शक्तियो का विकासात्मक, रचनात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

विशेष :– कुछ आचार्यों ने 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यजना' के अतिरिक्त 'तात्पर्याख्यावृत्ति' के नाम से एक अतिरिक्त शब्द-शक्ति मानी है, क्योंकि उनके मत से वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ, और व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त 'तात्पर्यार्थ' भी होता है।

शब्द-शक्तियों की पारस्परिक तुलना

तुलना का दृष्टिकोण	अभिधा	लक्षणा	व्यंजना
– अर्थ के स्रोत की दृष्टि से	परम्परा	भावातिरेक जन्य प्रयोग	बुद्धि नियंत्रित भावात्मक प्रयोग
– अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से	सामान्य [illegible] निश्चित	विशिष्ट [illegible] दुरारूढ	विशिष्ट, [illegible] दुरूह
– अर्थ / संख्या की दृष्टि से	एक	[illegible]	२ या दो अधिक
– कार्य / क्षेत्र की दृष्टि से	शब्द से लेकर सामान्य प्रसंग योजना तक	विशिष्ट वाक्य से लेकर प्रसंग तक	विशिष्ट प्रसंग से लेकर प्रबन्ध तक
५– आकर्षण-भेद की दृष्टि से	द्रव्यगत आकर्षण	भावात्मक आकर्षण	बौद्धिकता समन्वित भावात्मक आकर्षण
६– प्रभाव की दृष्टि से	न्यूनतम प्रभाव	गम्भीर प्रभाव	अधिक गम्भीर प्रभाव

जो इसी शक्ति के द्वारा व्यक्त होता है । इस मत के पोषक 'कुमारिलभट्ट' माने जाते हैं । इन्हे 'अभिहितान्वयवादी' आचार्य कहते हैं । इनके विरोधी आचार्य 'प्रभाकर भट्ट' इस 'तात्पर्याख्यावृत्ति' को नही मानते । इन्हें 'अन्विताभिधान-वादी' कहते हैं । कुमारिलभट्ट के अनुसार वाक्य में आगत पदो के अर्थ भिन्न भिन्न होते हैं, जो आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि से बहिर्भूत शब्द / शक्ति से समन्वित होकर 'तात्पर्यार्थ' के रूप मे स्पष्ट होते हैं, वही शब्द/शक्ति विशेष 'तात्पर्याख्यावृत्ति' है ।

प्रभाकरभट्ट के मत से वाक्य मे आने के पूर्व अनेक पदों के अर्थ स्वत परस्पर अन्वित हो जाते हैं और वाक्यार्थ का रूप प्राप्त कर लेते हैं, अत उस शक्ति के मानने की आवश्यकता ही नही होती। अधिकाश आचार्यों ने 'तात्पर्या-ख्यावृत्ति' को मान्यता नही दी । वस्तुत व्यजना शक्ति के रहते हुए इसकी कोई आवश्यकता नही प्रतीत होती ।

काव्य एवं शैली

'शैली' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के 'शील' शब्द (शील) से मानी जाती है । 'शील' के अनेक अर्थ हैं :– स्वभाव, लक्षण, झुकाव, आदत, चरित्र आदि। ये सभी अर्थ व्यक्ति की विभिन्न विशिष्टताओ के द्योतक हैं । जैसे स्वभाव मन की प्रकृति का सूचक है । 'शील' शब्द बहुत व्यापक है, उसका सम्बन्ध व्यक्ति की मनोवृत्ति, रुचि, आदत, व्यवहार, चरित्र आदि विभिन्न पक्षो से है । दूसरी ओर 'शील' का प्रयोग इन पक्षो की किसी एक विशेषता के साथ भी होता है जैसे रूप-शील, गुण-शील, लज्जा-शील आदि । अत 'शील' का सम्बन्ध व्यक्ति विभिन्न वैयक्तिक विशेषताओ से है ।

शैली' शब्द व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओ की अपेक्षा उसके कि 'एवं रचना-कौशल के वैशिष्ट्य से अधिक सम्बन्धित है । आधुनिक ी' शब्द का प्रयोग अग्रेजी के स्टाइल 'STYLE' शब्द के समानार्थक होने लग गया है। अतः इसके प्रचलित अर्थ को समझने के लिए 'स्टा समझना आवश्यक है ।

स्टाइल 'STYLE' और शैली :– Style शब्द के भी विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थ प्रचलित रहे हैं । मूलतः यह शब्द ग्रीक के (Stylos) एवं लैटिन के (Stylus) से सम्बन्धित है । लैटिन Stylus से ही Styles की व्युत्पत्ति मानी जाती है । Stylus का मूल अर्थ "नोकदार कलम" है । किन्तु आगे चलकर इसके समानार्थक 'स्टाइल' के अनेक अर्थ विकसित हो गए । जैसे लिखने का ढंग, लिखित रचना, लेखक विशेष की अभिव्यक्ति की विशिष्टता, साहित्यिक रचना की स्वगत विशेषताएँ, बोलने का लहजा तथा किसी कलाकार की रचना-पद्धति की विशिष्टता ।

हिन्दी के 'शैली' शब्द का प्रयोग भी 'स्टाइल' के उपर्युक्त अर्थों में ही होता है, किन्तु इसका क्षेत्र अभी तक कलाओं तक ही सीमित है । हम छायावादी शैली गीतों, कांगड़ा-शैली के चित्रों एवं विभिन्न शैली के नृत्यों की चर्चा तो करते हैं, किन्तु अन्य क्षेत्रों में 'स्टाइल' की भाँति शैली का प्रयोग नहीं करते, किन्तु जहाँ तक साहित्य की शैली का सम्बन्ध है, 'स्टाइल' और 'शैली' के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रह गया । अतः हम दोनों को समानार्थक मान सकते हैं ।

शैली की परिभाषा

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में साहित्य की शैली की शताधिक परिभाषाएँ प्रचलित हैं, जिनमें से अनेक परस्पर विरोधी एवं शैली के प्रचलित अर्थ के प्रतिकूल भी हैं ।

प्लेटो– जब विचार को तात्त्विक रूपाकार दे दिया जाता है, तो शैली का उदय होता है ।

अरस्तू– शैली में वाणी में वैशिष्ट्य (चमत्कार) का समावेश होना है । अभिव्यञ्जना शैली कहने का उपयुक्त ढंग भी आना चाहिए ।

मिडल्टनमरी– शैली भाषा की वह विशेषता है जो लेखक के विशिष्ट भाव या चिन्तन को ठीक-ठीक रूप से प्रेषित करती है ।

Whipple–Style is the intimate and unseparable fact of

the personality of the writer.

शैली लेखक के व्यक्तित्व का अन्तरग एव अविभाज्य तत्त्व है। चेस्टर
के अनुसार शैली विचारो का परिधान है।

Style is the dress of thoughts.

पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किए गए शैली तत्व के विवेचन से स्पष्ट
होता है कि वे लोग शैली के दो तत्व स्वीकार करते हैं :—

१. वस्तु-पक्ष (अन्तर) २ व्यक्ति पक्ष (वाह्य पक्ष)

इन दोनो को क्रमश अन्त पक्ष और वाह्य पक्ष कह सकते हैं। शै
अन्त. पक्ष के अन्तर्गत शैली मे अभिव्यक्त रचनाकार की व्यक्तिगत सब
और दुर्बलताओ की व्याख्या की जाती है और फिर उनसे शैली के स्व
में जो परिवर्तन आते हैं उनकी अभिव्यक्ति कर दी जाती है।

शैली के वाह्य-पक्ष के अन्तर्गत अलकार, गुण आदि की स्थिति का अ
किया जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य-शैली-तत्त्व विवेचन मे वस्तु और
इन दोनो पक्षों का सन्तुलन रहता है। यदि प्रधानता की खोज की जा
व्यक्ति तत्त्व की ऊर्जस्विता दिखाई पडती है।

भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय काव्य शास्त्रों में शैली के अन्तर्गत रीतियों, वृत्तियो तथा
का समावेश हो जाता है। रीतियाँ, वृत्तियाँ तथा गुण आपस में कितने
हैं, इस पर संस्कृत आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा है। कुछ तो रीतियों
वृत्तियो की भिन्न-भिन्न सत्ता स्वीकार करते हैं, कुछ इन्हें एक ही मान
भोज ने रीतियो का सम्बन्ध वाहरी वर्ण-विन्यास से और वृत्तियो का
मन से दिखाया है, परन्तु भामह ने स्पष्ट शब्दो में कहा है जो वृत्ति
रीतियो का विभाजन करते हैं तथा भिन्न-भिन्न नाम देते हैं वे वृत्ति
र्थात् तीनो वृत्तिया (उपनागरिका, परुषा, कोमला) वामनादि के
तो रीतियाँ मानी गई हैं। यह कह कर वृत्तियो और रीतियों को
गया है। अत इस प्रकार रीतियाँ, वृत्तियाँ, गुण (ये भी अलग
अन्तर्गत आते हैं) मूलतः एक ही हैं और शैली 'Style' के समान माने

शैली का महत्व

शैली के महत्व पर प्रकाश डालते हुये एक लेखक ने लिखा है :—

Style is not the coat but is the skin of the writer अर्थात रीति लेखक के भावों की पोशाक न होकर त्वचा है, जिस प्रकार चर्मरोग ग्रसित शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अव्यवस्थित पदयोजना से युक्त काव्य का सौन्दर्य भी खण्डित हो जाता है। अतः काव्य सौन्दर्य में शैली का वही स्थान है जो शरीर सौन्दर्य में त्वचा का है।

"यह निःसकोच कहा जा सकता है कि साहित्य में विषय की विशिष्टता के अनुसार उसकी शैली में भी वैशिष्ट्य का संचार अवश्य होता है—यह दूसरी बात है कि कहीं इसकी मात्रा इतनी न्यून हो कि उसे हम भलीभाँति न पहचान पायें, साथ ही यह भी सम्भव है कि लेखक के किसी विशेष आग्रह के कारण या किसी अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण शैली में विषय वैशिष्ट्य का बिल्कुल अभाव रहे, किन्तु सामान्य-स्थिति में ऐसा होना स्वाभाविक नहीं।

शैली का सम्बन्ध व्यक्तित्व, विषय, पाठक एवं भाषा आदि से घनिष्ठ है। शैली का निर्माण किसी एक स्रोत पर आधारित नहीं, सभी स्रोतों का न्यूनाधिक योगदान रहता है और किसी रचना में शैली का सम्पूर्ण योगदान रहता है, जो रचना का शरीर या वाह्यविधान प्रस्तुत करती है। अतः शैली-विहीन रचना का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

काव्य और अभिव्यंजनावाद

क्रोच का अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद का विकास—'अभिव्यंजनावाद' का बीजारोपण पाश्चात्य-देशों में सबसे पहले ग्रीक साहित्य में हुआ। 'लैसिंग' नामक आचार्य ने अपने 'सौन्दर्यवाद' की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सामने रक्खा कि आत्मा का सौन्दर्य ही कला और काव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है। लैसिंग का यह मत भारतीय महाकवि 'भवभूति' के 'वाणी को आत्मा की कला' कहने वाले मत से बहुत मिलता-जुलता है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' के 'अयं पुरुषः वाङ्मय.'' वाली उक्ति भी लैसिंग के सि
से मिलती-जुलती प्रतीत होती है। इतना होते हुए भी 'लैसिंग' का सि
आत्मा को ही काव्य के रूप में अभिव्यक्ति मानने वाले भारतीय सिद्धान्त
कई दृष्टियों से भिन्न है। इस भिन्नता के मूल में दोनों देशों के दर्शनों में प्रति
पादित आत्मा सम्बन्धी धारणाओं का वैषम्य और वैभिन्य है। जो भी हो
इतना तो हम कह सकते हैं कि साहित्य या काव्य को सौन्दर्य की अभि
और विशेषकर मानव आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति स्वीकार करके दो
ही देशों में अभिव्यञ्जनावा॰ को साहित्य का प्राणभूत सिद्धान्त व्यजित कि
गया है।

लैसिंग के बाद अभिव्यञ्जनावाद के सिद्धान्त का संकेत करने का श्रेय वि
लमैन नामक आचार्य को दिया जाता है। इन्होंने भी लैसिंग के सदृश
काव्य को आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति माना है। दोनों में अन्तर केवल
इतना है कि लैसिंग काव्य में आत्मा के विषादात्मक सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति
स्वीकार करता है, जबकि विकलमैन ने उसे उसकी प्रसादात्मक अभिव्यक्ति स्वी
कार किया है। विकलमैन ने अभिव्यञ्जनावाद की विविध शैलियों और स्वरूप
पर भी प्रकाश डाला है।

इन उपर्युक्त दोनों आचार्यों ने अभिव्यंजनावाद की विवेचना कला
साहित्य के प्रसंग में ही की थी। आगे चलकर 'काण्ट' CANT नामक दार्श
निक ने उसे दर्शन क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। कॉण्ट ने ज्ञान
के दो विभाग किए—

१. व्यावहारिक-ज्ञान। २ विशुद्ध ज्ञान।

उसने कला को दोनों प्रकार के ज्ञानों की मध्यवर्तिनी सिद्ध करते हुए अनु
भूति की अभिव्यक्ति या 'जजमेण्ट' कहा है।

काव्य-कला को मुक्त गगन में उन्मुक्त करने का श्रेय इसी आचार्य को दिया
जाता है। योरोपीय 'उन्मुक्तवाद' या 'स्वच्छन्दतावाद' की प्रेरणा इस दार्शनिक
के अभिव्यञ्जनावादी सिद्धान्त में सन्निहित है। इस प्रकार 'कॉण्ट' ने अभिव्य
ञ्जना के माध्यम से काव्य और कला में एक प्रकार का समन्वय स्थापित करके

प्रयत्न किया। आगे चलकर कॉलरिज ने इस सिद्धान्त के मार्ग को कुछ प्रशस्त किया। उसने यह प्रतिपादित किया कि मानसिक क्रिया से भिन्न किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। यह मत हमारे यहाँ 'पंचदशी' और 'योग वासिष्ठ' आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित है। इस सिद्धान्त ने साहित्य क्षेत्र में अन्तश्चेतनावाद, अभाववाद, वासनावाद आदि अनेकानेक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रचलन में योगदान दिया।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

क्रोचे के अनुसार कला और काव्य एक स्वतन्त्र आध्यात्मिक प्रक्रिया की देन है। इसका अर्थ यह है कि उसके मन में परोक्ष सत्ता एक मानस व्यापार मात्र है। उसके अनुसार इस मानसिक क्रिया के अनेक नाम और रूप हो सकते हैं। इन्हीं नाम-रूप भेदों के कारण ही इस अखण्ड मानसिक व्यापार की विविध रूपी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है।

क्रोचे ने स्थूल रूप से मन व्यापार या आध्यात्मिक ज्ञान के दो पक्ष माने हैं—

१. ज्ञान या प्रज्ञा (सैद्धान्तिक पक्ष)

२. क्रिया या संकल्प (व्यावहारिक पक्ष)

ज्ञान या 'प्रज्ञा' के भी क्रोचे ने दो रूप माने हैं १ स्वयं-प्रकाश ज्ञान या कल्पनात्मक ज्ञान २ तार्किक ज्ञान या प्रतिभा। प्रथम की अभिव्यक्ति मूर्तियों के माध्यम से होती है—उसका सम्बन्ध कला से बताया गया है और दूसरे से हम निर्णय करने में समर्थ होते हैं—यह तर्क और दर्शन की वस्तु है।

परिभाषा

'अभिव्यंजनावाद' का सम्बन्ध कल्पनात्मक ज्ञान या प्रत्यक्ष ज्ञान से है। यह ज्ञान इन्द्रियमूलक और स्वतन्त्र होता है। साथ ही वह दृश्य जगत् की नाना वस्तुओं के संस्कारों से विशिष्ट रहता है। बाह्य रूप से निरपेक्ष यही संस्कार जब वासना के सांचे में ढल कर निखरते हैं तो काव्य और कला क्षेत्र में उस अभिव्यक्ति को अभिव्यंजना कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रतिभिज्ञान मे उद्भूत कल्पना ही अभि
की जननी है। कल्पना एक मन व्यापार है जो सौन्दर्यात्मक सूक्ष्म और
माना जाता है अमूर्त जनक और जननी मे उद्भूत कल्पना भी पहले अन्तः
मे ही व्यक्त होती है बाद मे वह किसी माध्यम का सहारा लेकर किसी कृ
या कला का रूप धारण करती है। इस प्रकार क्रोचे ने कलात्मक ज्ञा
उद्भावना को भी अभिव्यजना कहा है।

अभिव्यंजनावाद की मान्यताएँ

१–अभिव्यजनावाद का सम्बन्ध सहज-ज्ञान या कलात्मक ज्ञान मे है।

२–वह बाह्य-जीवन और जगत् से निरपेक्ष वस्तु है।

३–वह कवि या कलाकार की सौन्दर्य-भावना का गत्यात्मक रूप है।

४–वह गत्यात्मक रूप पहले सूक्ष्म रूप से कलाकार के मन मे स्फुरित हो
है, बाद मे आश्रय भेद से उसकी अभिव्यक्ति होती है।

५–'सहज-ज्ञान' स्वय प्रतिच्छवि रूप है। वह प्रतिच्छवि केवल बाह्य-ज
का प्रतिबिम्ब मात्र नही है, वह उसके पूर्व सस्कारो से नियंत्रित रहती है।

६–काव्य मे अभिव्यजना ही सब कुछ है जो एक अखण्ड-तत्व है।

७–अभिव्यजना अपना उद्देश्य आप है, उसका कोई स्वतत्र उद्देश्य नही है।

८–सहजानुभूति की स्थिति स्वाभाविक है, प्रयत्नज या ऐच्छिक नहीं हो
सकती। यह हमारी इच्छा पर अवलम्बित है कि हम उसे अभिव्यक्त करें
न करे।

९–कला एक आध्यात्मिक क्रिया है, अभिव्यजना उसका ही नाम है। क
अभिव्यंजना का मूर्त्तरूप है।

१०—अभिव्यजना की प्रक्रिया मे चार स्तर दिखाई पड़ते हैं। १. सवेद
का स्फुरण २ अमूर्त सवेदनाओ की प्रवाहमयता या सहजानुभूति ३. आनन्द
भूति ४, सहजानुभूति का मूर्तिकरण।

११–प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव से ही कलामय है, क्योंकि उसमे सहजानुभू
होती है। जहाँ सहजानुभूति होती है वहाँ अभिव्यंजना भी होती है।

क्रोचे के मत मे यह स्पष्ट नही है कि सौन्दर्य वस्तु मे होता है या अभि

है, … [illegible] है । ऐसा प्रतीत होता है कि वे अभिव्यंजना को सौन्दर्य
[illegible] है ।

विद्वान् एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार

शुक्ल जी अभिव्यंजना को उक्ति का अनूठापन ही मानते थे । जिस वस्तु
… की अभिव्यंजना की जाती है, उसका कोई महत्त्व नहीं होता । तात्पर्य
है कि अभिव्यंजना में ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है । जिस वस्तु या भाव
अभिव्यंजना की जाती है वह क्या है ? वह कैसा है ? यह सब कुछ काव्य
के बाहर की वस्तु है । क्रोचे का कहना है कि "अनूठी-उक्ति की अपनी अलग
सत्ता होती है । वह क्या है कैसी है, यह सब कुछ काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात
। उसे किसी दूसरे के कथन का पर्याय नहीं समझना चाहिए ।"

आचार्य शुक्ल ने आगे कहा कि अभिव्यंजना काव्य को जीवन और जगत्
… अलग करती है । उनके मत से काव्य में मन व्यापार की अभिव्यक्ति नहीं
होती, वरन् जीवन के मन-व्यापारों भावों और विचारों की अभिव्यंजना ही
काव्य का सर्वस्व है । क्रोचे उनको केवल काव्य के उपादान मात्र मानता है ।
इसमें उसका प्रत्यक्ष–सम्बन्ध-'प्रातिभ-ज्ञान' से माना है, जो ठीक नहीं, शुक्ल जी ने
इस बात का खण्डन किया है ।

क्रोचे के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों ने आपत्तियाँ उठाई हैं ।
क्रोचे ने कहीं पर भी कला की प्रेषणीयतावाली बात पर बल नहीं दिया । इस
प्रकार विद्वानों ने अच्छी आलोचना की है । अभिव्यंजना आध्यात्मिक पृष्ठभूमि
पर आधारित होती हुई भी कई दृष्टियों से पंगु प्रतीत होती है ।

अनेक भारतीय विद्वानों ने तथा शुक्ल जी ने भी कुन्तक का 'वक्रोक्तिवाद'
और क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' समझने में भूल की है । उन्होंने क्रोचे के अभि-
व्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती रूप तक कह डाला । एकाध स्थलों
पर उन्होंने इसे 'वाग्वैचित्र्यवाद' कह दिया है । उनके मतानुसार 'वक्रोक्तिवाद'
… वाद' में इतना अन्तर है कि वक्रोक्तिवादी 'व्यंजना' का विशेष
… करते थे और अभिव्यंजनावादी लक्षणों को प्रधानता देते थे ।

छन्द भी स्पष्टतः 'लय' के ही अनुभाग होते हैं। इसीलिए जो इस सहज-क्ति से सम्पन्न थे, उन्होंने धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों का विकास र लिया और अन्त में उनकी आदि रचनाओं में कविता का जन्म हुआ।

अरस्तू ने कला को प्रकृति का अनुकरण माना है। यथा—काव्य भाषा के ध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। यह 'अनुकरण' शब्द अंग्रेजी के Imita-on शब्द का अनुवाद है। पाश्चात्य चिन्तकों के अनुसार संसार के समस्त दार्थ असत्य हैं, प्रतीति मात्र है, अनुकृति है। वे मूल सत्य का (Idia) अनु-रण हैं। इस हेतु काव्यरचना सत्य से दूर होती है। अरस्तू ने कला को कृति का अनुकरण तो बतलाया, किन्तु 'प्रकृति' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं या, फलतः इसके अनेक अर्थ लगाये गए। वस्तुतः अरस्तू ने प्रकृति का अर्थ ह्य एवं आन्तरिक सृजन की प्रक्रिया माना है।

अरस्तू ने तीन प्रकार की वस्तुओं को अनुकार्य माना है—

१. रूप—यथार्थजगत्, जिसका मूर्त अस्तित्व है।

२. प्रतीयमानरूप—मानसिक बिम्ब द्वारा सम्भावित रूप।

३. आदर्शरूप—जैसी उन्हें होनी चाहिए।

इसमें प्रथम में इन्द्रियजन्य लय की प्रधानता है, शेष दो में कल्पना का प्राधान्य है। बिना कल्पना के अनुकरण सम्भव भी नहीं है। हृदय का बिम्ब कल्पना द्वारा ही अंकित किया जा सकता है। कवि को इस अनुकरण में आनंद की उपलब्धि भी होती है। इस प्रकार अरस्तू ने वस्तुतत्व और आनन्दतत्व को संपृक्त कर दिया है।

अनुकरण का माध्यम, विषय एवं विधि प्रत्येक में भिन्न होता है। प्रो० बूचर ने 'अनुकरण' का अर्थ 'सादृश्य विधान' माना है। 'पाटम' ने आत्मा-भिव्यक्ति से भिन्न, जीवन (की अनुभूति) का पुनः सृजन को 'अनुकरण' माना है।

प्रो० जेम्स का मत है—अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनुकरण से अभिप्राय है, साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।

निष्कर्ष—अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में काव्यरचना का तात्पर्य ... चित्रणमात्र नहीं है, उसमें कल्पना का मिश्रण है। कवि जो सृजन करता है वह मौलिक न होकर वस्तु का पुन. सृजन होता है। इस सृजन में ... आनन्द की भी प्राप्ति होती है। इस मत ने काव्य में जीवनतत्त्व की ... स्थापित कर काव्य को जीवन से संपृक्त कर दिया, यह इसकी महत्त्वपूर्ण देन है।

उदात्तता का सिद्धान्त

यूनानी काव्यशास्त्र मे अरस्तू के बाद 'लोंजाइनस' का विशेष महत्त्व है। उसकी मान्यताओं के आधार पर ही उदात्तता का सिद्धान्त प्रतिपादित है। लोंजाइनस ने भावुक के मन पर पड़ने वाले काव्यानन्द के प्रभाव का अध्ययन किया है और आनन्दानुभूति की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। ... स्वीकार किया है कि हर प्रभाव अपने आप मे मूल्यवान् नही होता। साहित्य का मूल्याकन इस आधार पर होना चाहिए कि किसी रचना के ... यन के पश्चात् पाठक आनन्दानुभूति का अनुभव करता है या नही। ... आनन्दानुभूति का अनुभव करता है तो रचना मूल्यवान् है। "क्योंकि लोंजाइनस ने यह माना है कि भावविचारो मे जब तक महानता या 'उदात्तता' न ... वह भावुक या पाठक को आनन्दानुभूति मे तल्लीन नही कर सकती है।"

'लोंजाइनस' ने मानव की उच्चतम प्रवृत्तियो का सम्बन्ध काव्य से सम्बद्ध कर दिया। उनका कहना है "कि काव्य के विषय मे भिन्न जीवन, महत्त्वाकाक्षा और युग के लोग समान दृष्टि रखते हैं।"

"For when men of diffirent habits lives ambitions ... take one and the same view about the same writing"

लोंजाइनस ने कल्पना को मानव-प्रेरित माना है और कल्पना का काव्य मे प्रमुख उद्देश्य शक्ति-सम्पन्नता उत्पन्न करना, मूर्ति-विधान करना तथा ... भाव एवं विचारो को स्पष्ट करना सिद्ध किया है। उसने काव्य मे 'भाव-तत्त्व' और 'कल्पना-तत्त्व' की महत्ता को बराबर स्वीकार किया है। ...

है। उनका मत है कि 'रमणीयता' हृदय अथवा बुद्धि पर पड़े हुये प्रभावों पर ही नहीं आश्रित होती है अपितु उस शक्ति पर आश्रित होती है जो भावुक के निजी व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती है ।

लोंजाइनस के अनुसार अच्छी कविता वही होती है जिसमें रमणीयता तथा मन में भावनाओं को उत्पन्न करने की समर्थता होती है । उसने काव्य के कला पक्ष (अलंकार, गुण, रीति आदि) का गौण भावावेग माना है । काव्य का विषय असाधारण वस्तुएँ ही उत्पन्न करती हैं । उसने कविता को अलौकिक तथा दैवी मानकर आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है । उसने स्वीकार किया है कि मनुष्य के सामान्य-जीवन का 'सत्य' ही उदात्त का भी सत्य है । उसने उदात्त-भावना के ५ स्रोत माने हैं—

नैसर्गिक १—विचारों को प्रकट करने की समर्थता ।
२—प्रेरणा-प्रसूत एवं उद्दाम आवेग ।
कला— ३—समुचित अलंकार-योजना ।
४—साधु-भाषा ।
५—गौरवपूर्ण रचना-विधान ।

इनमें प्रथम दो तत्त्व तो नैसर्गिक है तथा शेष तीन कला की निष्पत्ति है । उपर्युक्त वर्णित तत्त्वों का वैविध्य, अतिशयोक्ति और बहुवचन प्रयोग एक ओर सफलता तथा दूसरी ओर विफलता का कारण भी हो सकता है । लोंजाइनस के अनुसार कोई रचनाकार तभी महान् हो सकता है, जब उसमें औदात्य का गुण हो । ऐसी स्थिति में औदात्य-गुण-सम्पन्न लेखक की रचना स्वयमेव आनन्दोपलब्धि प्रदान करती है । रचना में उदात्त तत्त्वों का समावेश तभी होता है, जब उसके रचनाकार के विचार महान् एवं व्यापक परिवेश पर निर्मित होते हैं ।

आदर्शवादी सिद्धान्त

महान उपन्यासकार और आलोचक 'टॉलस्टॉय' 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे । इसी के विरोध में उन्होंने आदर्शवादी सिद्धान्तों का

प्रतिपादित किया था। टॉल्स्टॉय के अनुसार कला वह माध्यम है जिसे
द्वारा कलाकार अपनी अनुभूत भावनाओं के द्वारा दूसरों को प्रभावित कर
है। यदि वह किसी को प्रभावित करने में असमर्थ है, तो उसकी रचना
का स्वरूप नहीं हो सकती और न ही वह कलाकार श्रेष्ठ पद का ही अधि
हो सकता है। कोई भी कलाकृति किसी न किसी भावना की अभि
करती है और अनिवार्यतः उसमें भाव, रूप विधान और सत्यता के तत्व
समावेश हो ही जाता है। टॉल्स्टॉय ने कला, कला के माध्यम से तीन श्रे
बनाई, जो इस प्रकार है –

१. एक वे जिनमें वस्तु-तत्त्व एवं सौन्दर्य के सद्भाव तथा निष्ठा
न्यूनता होती है।
२. दूसरी वे, जिनमें सद्भाव तो है, किन्तु निष्ठा एवं सौन्दर्य की न
होती है।
३. तीसरी वे, जिनमें वस्तु-तत्त्व की न्यूनता होते हुए भी सौन्दर्य एव
होती है।

इसी आधार पर वर्ग बनाये जा सकते हैं और कलाकृतियों का
मूल्यांकन किया जा सकता है। कला वास्तव में आनन्द का साधन नहीं
मानव जीवन का एक तत्त्व है। यह मानवीय जीवन से घनिष्ठतम
सम्बन्धित है भाषा की भाँति कला भी मानव विचारों एवं अनुभवों का
करती है तथा उनके संगठन के माध्यम का कार्य करती है। इस प्रकार
वस्तुतः पूर्णरूप से मानवीय प्रक्रिया है।

'टॉलस्टॉय' ने साहित्य का आधार धर्म माना है, पर उसने यह भी
कार किया है कि कला न ईश्वर की रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति
वह ऐसी क्रीड़ा, जिसमें मनुष्य अपनी संचित-शक्ति के अतिरेक का उत्सर्ग
है, न वह केवल आनन्द है जैसा कि विभिन्न विचारधाराओं के लोग कह

सम्पूर्ण मानव जीवन विविध प्रकार की कलाओं से ओत-प्रोत है।
नृत्य, स्वांग, घरों की सजावट, वेशभूषा, वर्तनों से लेकर गिरजे की प्रार्थ
, स्मारकों तथा विजय-यात्राओं तक यह सब कलात्मक क्रियायें हैं

चित अर्थ मे कला द्वारा हम भावनाओ का सम्प्रेषण करने वाली मानवीय
याओ का अर्थ नही लेते, किन्तु केवल उसी अग का अर्थ लेते हैं, जिसे हम
मी कारण से उसमे से चुन लेते हैं और जिसे हम विशिष्ट महत्त्व प्रदान
ते हैं।"

टॉलस्टॉय के इन आदर्शवादी सिद्धान्तो से पाश्चात्य समालोचना के क्षेत्र
नूतन-क्रान्ति का आविर्भाव हुआ और कला को मानव जीवन से सम्बन्धित
ने का प्रयत्न किया जाने लगा, जिससे कला को मानवीय-प्रतिक्रिया समझ-
र कला के क्षेत्र मे नवीन प्रतिमान स्थापित हुए।

अभिव्यंजनावाद (१८६६-१९५२)

इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक "बेनेडेटोक्रोचे" आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने
न्दर्य-शास्त्र के नियमो पर आधारित अपने सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया,
। 'अभिव्यंजनावाद' के नाम से प्रसिद्ध हुए। क्रोचे ने इस तथ्य को स्वीकार
या कि कला अन्तर्भूत भावना या सहज ज्ञान (Intuition) है। इसका
म्बन्ध किसी भी स्थिति मे वाह्यवस्तु से नही किया जा सकता, क्योंकि वाह्य-
तु यथार्थ नही है। क्रोचे ने यह भी स्वीकार किया है कि सौन्दर्य सहज
न की अभिव्यक्ति है। सहज-ज्ञान और अभिव्यंजना घनिष्ठ रूप से परस्पर
म्बन्धित हैं। अतः इसे इस रूप मे भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहज-
न है या सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है।

क्रोचे ने ज्ञान के दो रूप माने हैं—सहजानुभूत-ज्ञान के लिए बौद्धिक-ज्ञान
ी आवश्यकता। सहजानुभूति अथवा अभिव्यंजनात्मक ज्ञान का सम्बन्ध
ौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्यो के साथ है। कला वास्तव मे प्रभावो की
अभिव्यंजना होती है, न कि अभिव्यंजना की अभिव्यंजना। क्रोचे के इस अभि-
व्यंजनावादी सिद्धान्त ने पश्चिमी-साहित्य मे ही सौन्दर्य-चिन्तन का विकास
ही किया, वरन् भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन की परम्परा को उसने घनिष्ठ रूप
े प्रभावित किया है।

अभिव्यक्तिवाद (१९१७)

टी० एस० इलियट वर्तमान अंग्रेजी साहित्य के युग प्रवर्तक कवि एव

विचारक माने जाते हैं। ये अव्यक्तिवाद के प्रवर्तक हैं। उन्होंने लिखा "कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से पलायन है। कवि [illegible] को अभिव्यक्ति नहीं देता, बल्कि एक विशिष्ट माध्यम को; जो सिर्फ [illegible] ही होता है। 'व्यक्तित्व' नहीं जिसमें मन पर पड़े प्रभाव और अनुभूतियाँ और अप्रत्याशित ढंगों से संयुक्त होती हैं। जो प्रभाव और अनुभूतियाँ के लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं, सम्भव है कि कविता में उनको स्थान न मि[illegible] जो अनुभूतियाँ कविता में महत्त्वपूर्ण होती हैं मनुष्य के अन्दर अर्था[illegible] व्यक्तित्व में उनकी भूमिका शायद नगण्य होती है।" इलियट ने यह किया है कि कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति से निर्लिप्त रहता है

मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

यूरोप के वर्तमान काव्यशास्त्र के इतिहास में 'डा० आई० ए० [illegible] का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। रिचार्ड्स ने आलोचना क्षेत्र में मनोवैज्ञानि[illegible] मूल्यों पर बल दिया है। उन्होंने साहित्य और जीवन में अविच्छिन्न सम्ब[illegible] स्वीकार किया, क्योंकि उसका आविर्भाव जीवन से ही होता है और वह जीव[illegible] के लिए रचा जाता है। उनकी आलोचना-दृष्टि मानवतावादी है। उन[illegible] अनुसार कला और साहित्य को जीवन की उपयोगिता से अलग करके देख[illegible] और उस पर विचार-विमर्श करना असगत है। उन्होंने कहा—कला औ[illegible] साहित्य की अनुभूतियाँ भी जीवन की अन्य अनुभूतियों के समान होती है[illegible] रिचार्ड्स ने आलोचक को जीवन के मूल्यों का निर्णायक एवं समाज के मा[illegible] सिक स्तर की विशेषता की रक्षा करने वाला, नियामक शक्ति के रूप में [illegible] कार किया है। आलोचक का सामाजिक मन के स्वास्थ्य से एक डाक्टर [illegible] भाँति ही सम्बन्ध होता है और उसकी उचित देख भाल करनी पड़ती है।

जो लोग कला के नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण को अधिक म[illegible] नहीं प्रदान करते हैं और उसकी अपेक्षा कला को स्वतः साध्य-सृष्टि मानते [illegible] रिचार्ड्स ऐसे विचारकों की मनोवृत्ति पर अपना असन्तोष प्रकट करते [illegible] वे काव्य के माध्यम से विभिन्न-वृत्तियों का सामञ्जस्य सम्भव मानते हैं, [illegible] यह भी स्वीकार करते हैं कि इसकी सहायता से व्यक्ति में आन्तरिक [illegible]

रूप से निर्धारित किया जा सकता है। सामञ्जस्य की दिशा का निर्धारण निर्दिष्ट व्यवहार की सफलता तथा औचित्य के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार रिचार्ड्स के मूल्यों की कसौटी एक ओर व्यक्तिगत मनोविज्ञान पर आधारित है, दूसरी ओर यह लोकमंगल से भी घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित है। इसकी यह मूल्य-दृष्टि देशकाल तथा पात्र के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। इसलिए यह सत्तात्मक कोटि की है। कदाचित् इसीलिए उन्होंने जीवन तथा काव्य को नीति से सम्बन्धित किया है।

'कविता-कविता के लिए' की मान्यता से रिचार्ड्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह अनुभूति अपने आप में साध्य है। दूसरे यह निहित-महत्ता ही उसका मुख्य मूल है। 'रिचार्ड्स' ने मूल्य तथा प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया है। उनका यह प्रेषणीयता का सिद्धान्त कलात्मक भाव अथवा अनुभूति से सम्बद्ध है। कला द्वारा प्रदत्त अनुभूति को उन्होंने सामान्यीकरण सामान्यीकृत-अनुभूति या कलात्मक-अनुभूति के रूप में विवेचित किया है। साहित्य में प्रेषणीयता के तत्त्वों को उन्होंने इतना अधिक महत्त्व दिया कि यह कहना गलत न होगा कि बिना प्रेषणीयता के साहित्यसृजन की कल्पना असम्भव है, क्योंकि प्रेषणीयता काव्य का अचेतन-तत्त्व है। कोई भी काव्य चाहे कितना भी 'स्वान्त-सुखाय' की भावना से क्यों न लिखा गया हो, प्रेषणीयता-तत्त्वों से वंचित नहीं रह सकता। इस प्रकार उन्होंने कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष को अधिक महत्ता प्रदान की। यह स्पष्ट है कि तर्क-संगत आलोचना मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद द्वारा ही सम्भव हो सकती है, यह रिचार्ड्स द्वारा कलावादियों को एक जबर्दस्त चुनौती थी।

मनोविश्लेषणवाद (१८५६-१९३९)

'सिगमण्ड फ्रायड' के मनोविश्लेषणावादी सिद्धान्त ने आधुनिक युग में जितनी क्रान्ति विचारों के क्षेत्र में उत्पन्न की है, उतनी किसी अन्य विचारधारा ने नहीं। फ्रायड ने यह स्वीकार किया कि कवियों के अवचेतन मन में साधारण व्यक्तियों की ही भाँति कुण्ठाएँ एवं वर्जनाएँ होती हैं, जिनका

वह दमन करने का प्रयास करता है। परन्तु कर नहीं पाता। वह मानव से अधिक बौद्धिक होता है। इसीलिये वह उसकी अभिव्यक्ति काल्पनिक रूप में काव्य के माध्यम से कर अवचेतन में सन्तोष प्राप्त करता है। इस प्रकार काव्य का एकमात्र उद्देश्य—कवि द्वारा अपनी आत्मा को सन्तोष प्रदान करना है। फ्रायड ने काव्य की परख वैयक्तिक-मनोविज्ञान के माध्यम से करने का प्रयत्न किया। काव्य में कवि व्यक्तित्व का एकांगीभाव ही प्रकाशित होता है। जो अवचेतन मन की कुण्ठाओं से सम्बन्धित होता है। अस्तु इस कल्पना काव्यजगत की अवास्तविकता का साहित्यिक-प्रविधि पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

जिस आनन्द का उपभोग मानव अपने जीवन में एक बार कर लेता है फिर उसका त्याग वह चाहते हुए भी सरलता से नहीं कर सकता और न लिया कि हम किसी वस्तु का त्याग करते भी हैं तो वह एक प्रकार का विनिमय ही होता है। फ्रायड के अनुसार अधिकांश मनुष्य जीवन भर काल्पनिक चित्रों का ही निर्माण करते रहते हैं। जो आदमी जीवन में सुखी है, वह काल्पनिक चित्रों का निर्माण नहीं करता। काल्पनिक चित्रों का निर्माण जीवन से असन्तुष्ट व्यक्ति ही करते हैं। अतृप्त-इच्छाएँ एवं भावनाएँ ही इन काल्पनिक चित्रों को प्रेरणा प्रदान करती हैं। ये अतृप्त इच्छाएँ या भावनाएँ दो प्रकार की होती हैं—या तो महत्वाकांक्षाएँ होती हैं या फिर काम-मूलक होती हैं।

फ्रायड ने कवियों का सम्बन्ध इन प्रवृत्तियों एवं दिवास्वप्नों से जोड़ते हुए बताया कि साहित्यकार अपने दिवास्वप्नों के अहंपूर्ण स्वरूप का रूपान्तर एवं परिवर्तनों द्वारा परिहार कर सकता है और अपने दिवास्वप्नों की अभिव्यक्ति के द्वारा वह हमें शुद्धरूपात्मक अर्थात् सौंदर्य-बोध सम्बन्धी आनन्द प्रदान करने का प्रलोभन दे सकता है। हमें सौंदर्य-बोध का जो आनन्द मिलता है, वह 'अग्रिम आनन्द' है और साहित्य के सच्चे आनन्द का उद्रेक हमारे मस्तिष्क के तनाव से मुक्त होने पर होता है। इस काव्य की प्राप्ति में कई उपकरणों का योग होता है। इन उपकरणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन 'कौशल' है। यह हमें एक ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है, जहाँ हम बिना किसी तिरस्कार अथवा

ज्ञा का बोध किये अपने दिवास्वप्नो का रसास्वादन करते हैं । यहाँ हम ए
नि पथ पर पहुँच जाते हैं, जिसके सम्बन्ध में नए एवं रोचक तथा जटिल अनु
न्धान हो सकते हैं । इस प्रकार फ्रायड ने काम भावनाओं एवं दिवास्वप्न
ो काव्य-सृजन की मूलप्रेरणा मानकर नवीन विचारधारा का सृजन किया ।

मार्क्सवाद

साहित्यालोचन की दिशा मे मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं
। यद्यपि कार्लमार्क्स (१८१८-१८८३) का साहित्यालोचन मे कोई प्रत्यक्ष
म्बन्ध नहीं, फिर भी उसके द्वारा प्रतिपादित-दर्शन कला एवं साहित्य के
म्बन्ध में प्रकट की गई मान्यताएँ इतनी प्रभावशालिनी सिद्ध हुई है कि साहि-
त्यालोचन उससे अछूता नही रह सका ।

मार्क्सवादी, साहित्य का प्रधान उद्देश्य वर्गहीन समाज की स्थापना मानता
। साहित्य का सम्बन्ध युगीन-जीवन एवं वर्ग-संघर्ष से होना अनिवार्य है ।
मार्क्सवाद काव्य का मूलाधार आर्थिक मानता है । इसीलिए काव्य-निर्माण-
सम्बन्धी क्रियाएँ देश की उत्पादन-प्रणाली एवं आर्थिक-व्यवस्था के अनुरूप
परिवर्तित होती रहती है । इस प्रकार साहित्य का विकास मूलतः आर्थिक
विकास पर ही निर्भर रहता है । कला के आस्वादन के सम्बन्ध मे कलात्मक
दृष्टि से सम्पन्न होना अनिवार्य होता है । मार्क्सवाद का दार्शनिक दृष्टिकोण
द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद' के नाम से विख्यात है । द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद के अनु-
सार सृष्टि का मूल 'सत्य पदार्थ' है । यह निरन्तर परिवर्तनशील अवस्था मे
रहती है । इसीलिये इसे द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही जाना जा सकता है ।
चेतन और पदार्थ मे पदार्थ को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है क्योंकि
सृष्टि मे चेतन, पदार्थ के बाद ही आया । सत्य-पदार्थ प्रमुख है और उसका
अस्तित्व स्वतन्त्र होता है । समाज के प्रत्येक परिवर्तन को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से
देखना चाहिए । द्वन्द्वात्मक में संघर्ष एक अनिवार्य स्थिति है । यह संघर्ष मूलत
दो परस्पर विरोधी शक्तियों मे होता है । इस सृष्टि का परिवर्तन मूल सत्य
है । जिसे यह संघर्ष प्रभावित करता है । द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद 'हीगल' के
द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद से आविर्भूत है । यह पूँजीवाद-व्यवस्था-शोषण पर आघा-

लिए है। 'शोषण' पूँजीवादी-वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग का होता है। पीड़ित है
सर्वहारा-वर्ग करता है, पर लाभ यह इने-गिने लोग उठाते हैं, जो पूँजीपति
वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। समाज से यह शोषण समाप्त होना चाहिए। च
कि पूँजीवादी वर्ग शक्तिशाली है और सर्वहारा वर्ग शक्तिहीन, इसलिए य
शोषण सरलता से समाप्त नहीं होगा। इसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।
मार्क्सवादी इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध साहित्य से जोड़कर उसमें इन्हीं विशे-
ताओं को खोजने का प्रयत्न करते हैं कि उसमें समाजवादी यथार्थवाद है
नहीं। यह दृष्टि बड़ी प्रगतिशील और उपयोगी है।

प्लेटो की काव्य-विषयक-धारणा

पाश्चात्य विद्वानों की साहित्य-समीक्षा-परम्परा में 'प्लेटो' का नाम ब
सम्मान के साथ लिया जाता है, क्योंकि इनका अस्तित्व प्रसिद्ध काव्यश
'अरस्तू' से भी पूर्व माना जाता है। 'प्लेटो' नैतिकता एवं सदाचार के पक्ष
थे, फलतः वे काव्य में भी इनका प्राधान्य देखना चाहते थे। इनके समय का
का स्तर भी 'मनोरंजन' के सस्ते उद्देश्य तक सीमित था। प्रायः तत्कालं
रचनाओं में ऐसे तत्त्वों की प्रधानता रहती थी, जो अवाञ्छनीय एवं अभद्र
जाते हैं। उनसे मानव-जीवन को कोई ऐसा सम्बल नहीं मिल सकता था,
समाज के उदात्तीकरण में सहायक हो। यद्यपि प्लेटो ने काव्यसिद्धान्त से सम
किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु उनके विचार उनकी तीन रचना
के माध्यम से ज्ञातव्य हैं। इनकी प्रारम्भिक रचना 'फीड्रस' (Fidrus) अ
'आयोन' (Ayon) के अतिरिक्त परवर्ती रचना 'रिपब्लिक' (Republic)
भी इनके विचारों की झलक मिलती है।

इन्होंने अपनी प्रथम दो रचनाओं में काव्य के प्रति प्राचीन दृष्टिक
अपनाया है। यथा—"The right gunction of art is to put bef
the soul of the images of what is intrinsically great and b
utiful."

अर्थात् कला का सही कार्य यह है कि वह मानव-स्वभाव का सच्चा

बनाता है । कवि तो प्रकृति का अनुकरण करता है और उसका अनुकरण पाठक या श्रोता अथवा नाटकदर्शक करते हैं । इस प्रकार मिथ्याचरण को प्रोत्साहन मिलता है, जो समाज के लिए हितकर नहीं है ।

तृतीय-आक्षेप—कवि प्रकृति का अनुकरण करता है, प्रकृति स्वयं सत्य का अनुकरण है, अत मिथ्या है और इसी मिथ्या प्रकृति की अनुकृति होने से काव्य भी मिथ्या है । इस प्रकार काव्य समाज हितकारी नहीं प्रतीत होता ।

चतुर्थ-आक्षेप—काव्य में 'आवेश' की प्रधानता होती है । आवेश और कुछ नहीं, मानवीय-दुर्बलता का प्रतीक है । काव्य इन्हीं क्रोध, उन्माद, ... आदि आवेशों को हृदयावर्जक रूपों में प्रस्तुत करता है । इस प्रकार काव्य मानवीय दुर्बलताओं का प्रचारक है । वस्तुत कवि एक प्रमादी एवं अनुत्तर-दायित्वपूर्ण व्यक्ति होता है, वह नैतिक प्राणी नहीं हो सकता । वह पाठकों तथा श्रोताओं में उन्माद का प्रचार एव प्रसार करता है, जिससे नैतिक-अनाचार की अभिवृद्धि होती है । अत आदर्शराज्य में कवि के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्लेटो ने अपने देशवासियों को कविता का बहिष्कार करने का परामर्श दिया था—"We should expel poetry from the city such being her nature, in case she should accuse us of brutality and boorishness . ..Let us state the Pleasure of producing poetry and imitation have any arguments to show that she is in her right place in a well governed city we shall bevery glade to receive her back again."

प्लेटो के आक्षेप एकांगी है, जिनका समुचित उत्तर उनके शिष्य 'अरस्तू' ने दिया है । इसके अतिरिक्त उनके आक्षेप 'असत्-काव्य' पर घटित होते हैं, सत् काव्य पर नहीं । उदाहरणार्थ कविता केवल 'आवेशजन्य' ही नहीं है, उसमें शक्ति, निपुणता एव अभ्यास की आवश्यकता होती है । इस प्रकार कविता शिक्षा एवं विकास के उद्देश्यों की पूर्ति करती है । जहाँ तक काव्य के मिथ्याचार का आक्षेप है, वह भी सगत नहीं है । कवि दृश्य पदार्थ के अर्थ को ... कर कविता में उसे मूर्त रूप देता है । इस प्रकार वह सत्य के मंदिर

का सूत्रबद्ध लक्षण उन्होंने कहीं नहीं किया, परन्तु उनके विवेचन के आधार पर प्राय. उन्हीं के शब्दों में काव्य-लक्षण का निर्माण और काव्य स्वरूप निर्धारण हुआ है।

काव्य एक कला है

काव्यशास्त्र के आरम्भ में ही अरस्तू ने यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य एक कला है—'चित्रकार अथवा किसी भी अन्य 'कलाकार' की ही तरह कवि 'अनुकर्त्ता' है।" निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं—"काव्य एक कला है एक ओर संगीत चित्र आदि (ललित) कलाएँ और दूसरी ओर महाकाव्य त्रासदी आदि काव्य-कला के विभिन्न रूप 'अनुकरण' के ही प्रकार हैं। अर्थात् समस्त कलाओं का मूल तत्त्व एक ही है—'अनुकरण'। इस प्रकार कला जाति है। और काव्य प्रजाति, महाकाव्य, त्रासदी आदि इसके व्यष्टि-भेद हैं। इन भेद-प्रभेदों के आधार तीन हैं—विषय, माध्यम और रीति।

उपर्युक्त स्थापना के अनुसार अन्य कला-रूपों की भाँति काव्य की आत्मा है—"अनुकरण", 'अनुकरण' यूनानी काव्यशास्त्र का व्यष्टि' शब्द है जिसका विवेचन इस प्रकार है—

अनुकरण-सिद्धान्त

अनुकरण यूनानी शब्द 'मीमेसिस' (Mimeyesiyes) के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। हिन्दी में वास्तव में यह अंग्रेजी शब्द 'इमीटेशन' (Imitation) का रूपान्तर होकर आया है। प्लेटो और प्लेटो के भी पूर्व यवन-आचार्यों ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग स्थूल अर्थ में 'नकल' या 'यथा प्रतिकृति' के अर्थ में किया है। उनके अनुसार विभिन्न कलाकार अपने माध्यम-उपकरणों के अनुसार भौतिक जीवन और जगत् का अनुकरण करते हैं। चित्रकार, रूप और रंग द्वारा, अभिनेता, वेशभूषा, आंगिक-चेष्टा तथा आदि के द्वारा, कवि, भाषा द्वारा। अरस्तू ने भी इसी प्रचलित शब्द को किया और उसमें नूतन अर्थ भर दिया—

१ कला प्रकृति की अनुकृति है

२ चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अ

अतएव इसका अनुकार्य अनिवार्यतः इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से ही कोई एक हो सकता है—जैसी वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं, अथवा जैसी वे होनी चाहिए।

३ कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है, जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है—और इतिहास विशेष की।

४ अनुकृत-वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से ये निष्कर्ष निकलते हैं—

१ काव्यात्मक अनुकरण के विषय प्रकृति अथवा जीवन का बहिरंग अथवा इसका आकार-धारी जड़-जंगम रूप ही नहीं है, वरन् उसका अंतरंग अथवा अनुभूति, विचार कल्पना आदि भी हैं।

२ इन दोनों में भी अंतरंग का ही प्राधान्य है, क्योंकि बहिरंग अर्थात् वस्तु के भी तो यथार्थ रूप का नहीं, वरन् प्रतीयमान-रूप का ही अनुकरण किया जाता है और वही सम्भव है, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान यहीं तक सीमित है। अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्षरूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक तथा भावात्मक—विचारात्मक-रूप ही अधिक ग्राह्य है। इस प्रकार काव्य में वस्तु के प्रायः तीन रूपों का अनुकरण किया जाता है।

१ प्रतीयमान-रूप (जैसा अनुकर्त्ता को प्रतीत होता है)

२ सम्भाव्य-रूप (जैसा वह हो सकता है)

३ आदर्श-रूप (जैसा वह होना चाहिए)

प्रतीयमान रूप के अनुकरण का अर्थ है, वस्तु के मानस प्रतिबिम्ब को शब्द आदि के माध्यम से व्यक्त करना। इस प्रक्रिया में मानस प्रतिबिम्ब में भाव-तत्त्व और शब्द द्वारा प्रस्तुति में कल्पना की अवस्थिति अनिवार्य है। सम्भाव्य रूप का चित्रण तो निश्चय ही कल्पना पेक्षी है और आदर्शरूप अनुकर्त्ता की इच्छा और विचार से पोषित कल्पना की सृष्टि होती है। अतएव

अनुकरण का अर्थ 'यथार्थ प्रत्यंकन' किसी भी रूप में नहीं है—वह [illegible] एवं कल्पनात्मक 'पुनः सृजन' का ही पर्याय है, इसमें सन्देह नहीं।

४ अनुकरण में आनन्द का तत्त्व अनिवार्यतः निहित होने का अर्थ यही है कि उसमें आत्म-तत्त्व का प्रकाशन निहित रहता है, क्योंकि आनन्द की उपलब्धि आत्म-तत्त्व के प्रकाशन के बिना सम्भव नहीं, किन्तु भाव-तत्त्व में उसमें सन्निहित 'आत्म-तत्त्व' का निश्चित सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है ; क्योंकि उसमें वस्तु-तत्त्व का ग्रहण अनिवार्य है।

अरस्तू के अनुसार काव्य की परिभाषा

१ अरस्तू के अनुसार कला के अनेक प्रकार हैं—काव्य, चित्र, संगीत आदि, जो माध्यम के आधार से एक दूसरे से भिन्न हैं। अर्थात् इन सब का मूलतत्त्व तो स्वभावतः एक ही है, किन्तु माध्यम भिन्न हैं। काव्य का माध्यम भाषा, चित्र का रंग-रेखा, और संगीत का स्वर इत्यादि। इसका अर्थ यह हुआ कि "काव्य, कला का वह प्रकार है जिसका माध्यम है भाषा।"

'कला' अरस्तू के मत से प्रकृति का अनुकरण है, शब्द के स्थान पर [illegible] भाषा का नियोजन कर देने से यह निष्कर्ष निकला कि 'काव्य प्रकृति के अनुकरण का वह प्रकार है जिसका माध्यम है भाषा। अतः अरस्तू के अनुसार काव्य का यह लक्षण बन जाता है—काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। किन्तु प्रकृति अरस्तू के लिए केवल बाह्य जगत् का ही नहीं [illegible] उससे भी अधिक अन्तर्जगत् का एक शब्द में 'जीवन' का पर्याय है और अनुकरण का अर्थ है 'अनुभूति' तथा कल्पना के द्वारा 'पुनर्निर्माण' या पुनःसृजन। इस प्रकार प्रकृति के अनुकरण से अभिप्राय है—अनुभूति तथा कल्पना के द्वारा जीवन का पुनःसृजन। इस व्याख्या के आधार पर उपर्युक्त काव्य-लक्षण का वास्तविक अर्थ यह हो जाता है—"काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना के द्वारा जीवन का पुनःसृजन है। अरस्तू—काव्य भाषा के माध्यम से (जो गद्य तथा पद्य दोनों ही हो सकती है) प्रकृति का अनुकरण है। इस [illegible] निम्न फलितार्थ हैं—

अनुकरण के माध्यम

जिस प्रकार कुछ लोग सचेष्ट शिल्प-विधान अथवा केवल अभ्यास द्वारा रंग-रूप या स्वर के माध्यम से विभिन्न विषयों का अनुकरण या अभिव्यंजन करते हैं, इसी प्रकार उपर्युक्त कलाओं में समग्र रूप से अनुकरण की प्रक्रिया लय, भाषा अथवा सामञ्जस्य में से किसी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है।

एक और कला है जिसमें अनुकरण का साधन केवल भाषा होती है—यह भाषा गद्य हो या पद्य और पद्य में भी चाहे अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया हो या एक का किन्तु इसका नामकरण अभी तक नहीं हुआ। हमारे पास कोई ऐसा सामान्य शब्द नहीं है, जिसका एक ओर तो सोफ्रोन और जेनार्कस के विडम्बन और सोक्रेटीस के सम्वादों तथा दूसरी ओर द्विमात्रिक छंद 'शोक-गीतिछन्द' या ऐसे ही किसी अन्य छन्द में रचित काव्यात्मक अनुकृतियों के लिये समान रूप से प्रयोग किया जा सके। छन्द के नाम के साथ 'रचयिता' या 'कवि' शब्द जोड दिया जाता है और शोक-गीति-कवियों अथवा महाकाव्य कवियों की चर्चा की जाती है। मानो वे अनुकृति के नहीं, वरन् छन्द के ही आधार पर निर्विवेक रूप से कवि-पद के अधिकारी हों।

अनुकरण के विषय

अनुकरण के विषय, कार्य एवं व्यक्ति होते हैं और ये व्यक्ति या तो उच्चतर कोटि के होंगे या निम्नतर कोटि के। यह विभाजन मुख्यत नैतिक आचरण

पर आधृत है और नैतिक-अन्तर में विभेदक लक्षण है—सद्वृत्ति तथा दुर्वृत्ति
अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें उनका या तो यथार्थ-जीवन से श्रेष्ठ
रूप प्रस्तुत करना होगा या हीनतर । या फिर यथावत् रूप । नृत्य, वंशीवादन और
राग-प्रधान कविताओं के विषय में भी यही सत्य है—इनमें भी कोई विभि
मानव-रूपों का चित्रण कर सकता है । जैसे 'तिमोथेउस' 'फिलोक्सेनस' दोनों ने
चक्राक्ष दैत्यों का चित्रण भिन्न प्रकार से किया । त्रासदी कामदी में भी यह
भेद है । कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा-मानव का हीनतर
चित्रण और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण—

अनुकरण की विधि

जब माध्यम एक हो और विषय भी एक ही । एक हो फिर भी कवि य
तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है और इस स्थिति में भी वह या
तो 'होमिरस' की तरह कोई अन्य व्यक्तित्व धारण कर सकता है या अपने निज
रूप में भी बोल सकता है—अथवा अपने सभी पात्रों को जीवित-जाग्रत चलते
फिरते प्रस्तुत कर सकता है । इस प्रकार जैसा कि हम आरम्भ में कह आये हैं
कलात्मक अनुकरण में विभेद करने वाले ये ही तीन उपादान हैं माध्यम
विषय, रीति

काव्य का उद्भव

अनुकरण

सामान्यत. कविता दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है और इ
दोनों की ही जड़ें हमारे स्वभाव में गहरी हैं । पहला—अनुकरण की वृत्ति
मनुष्य में शैशव से ही सन्निहित रहती है । उसमें और अन्य प्राणियों में एक
अन्तर यह है कि जीवधारियों में वह सबसे अधिक अनुकरणशील होता है
में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा सीखता है, अनुकृत-वस्तु से प्राप्त
भी कम सार्वभौम नहीं अनुभव होता, इसका प्रमाण है जिन वस्तुओं के
दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति का भावन आह्ला
बन जाता है । जैसे किसी अत्यन्त जघन्य-पशु अथवा शव की रूप-आकृ

। उदाहरण लिया जा सकता है । इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से उत्पन्न प्रबल-आनन्द प्राप्त होना है केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य मनुष्य को भी जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कहीं सीमित होती है । अत किसी अनुकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका अवलोकन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मनमें कहता है अरे ! यह तो अमुक है, क्योंकि यदि आपने वह वस्तु नहीं देखी तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा—वह अकम-रग योजना या किसी अन्य कारण पर आवृत होगा ।

सामंजस्य और लय

अत अनुकरण हमारे स्वभाव की एक सहजवृत्ति है दूसरी वृत्ति है—सामंजस्य और लय की । छन्द भी स्पष्टत लय के ही अनुराग होते है । इसलिये जो इस सहज शक्ति से सम्पन्न थे, उन्होंने धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियो का विकास कर लिया और अन्त मे उनकी भोंडी आशु-रचनाओ से कविता का जन्म हुआ ।

काव्य का विकास

लेखक के व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार काव्य-धारा दो दिशाओ मे विभक्त हो गई । गम्भीर-चेतना-युक्त लेखको ने उदात्त व्यापारो और सज्जनो के क्रिया कलापों का अनुकरण किया । जो क्षुद्र वृत्ति के थे उन्होंने अधमजनो के कार्यो का अनुकरण किया और जिस प्रकार प्रथम वर्ग के लेखको ने 'देव-सूक्त' और यशस्वी पुरुषो की प्रशस्तियाँ लिखी, उसी प्रकार इन लोगो ने पहले-पहल व्यग्य-काव्य की रचना की ।

आज कोई ऐसा व्यग्य-काव्य नहीं, जिसे होमेरस के पूर्ववर्ती किसी कवि की रचना कह सकें । यद्यपि ऐसे कई लेखक थे अवश्य, परन्तु होमर और उसके बाद के कई उदाहरण दिये जा सकते है । प्राच्य कवियो के प्राय दो भेद थे—वीरकवि और व्यग्य कवि ।

होमेरस गम्भीर शैली के कवियो मे सर्वश्रेष्ठ है—क्योंकि नाट्य-रूप और अनुकरण-कौशल का सन्देश केवल उनके ही काव्य मे मिलता है । उसी तरह हास्य-नाटक-व्यग्य रचना के स्थान पर अभिजात्य तत्त्वों को नाट्यरूप मे उप-

[illegible] के [illegible] का [illegible] रहता है । यहाँ उपाख्यानों और [illegible] तथा [illegible] उपाख्यानों का भी विवेचन हो [illegible] क्योंकि इन सबका सविस्तार विवेचन आगे [illegible] ।

त्रासदी

त्रासदी किसी गम्भीर तथा पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य व्यापार के रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है ।

त्रासदी की आधार-भूत कथा गम्भीर होती है वह अपने आपमें पूर्ण होती है। उसका निश्चित आयाम होता है । इसमें मुख्यतः करुणा और त्रास होते हैं तथा भाववश प्रवाह होने के कारण अलंकृत तथा गम्भीर होती है ।

त्रासदी के अंग

प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यतः ६ अंग होते हैं जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—कथानक, चरित्र चित्रण, पद रचना, विचारतत्त्व, दृश्यविधान, गीत। इनमें कथानक चरित्र चित्रण तथा विचारतत्त्व अनुकरण के विषय हैं। दृश्य-विधान-माध्यम तथा पदरचना एवं गीत अनुकरण की विधि है। अरस्तू के समय तक इनका उपयोग प्रत्येक त्रासदीकार ने किया है।

कामदी

'कामदी' काव्य का प्रमुख रूप है। अरस्तू ने कामदी पर सम्यक् प्रकाश डाला था, परन्तु वह भाग उपलब्ध न होने के कारण कामदी के विषय में अरस्तू की धारणाओं का प्रामाणिक प्रतिपादन आज सम्भव नहीं।

'त्रासदी' और 'कामदी' में यही भेद है कि कामदी का लक्ष्य होता है—यथार्थ-जीवन की अपेक्षा मानव का "हीनतर-चित्रण" और त्रासदी का लक्ष्य होता है 'भव्यतर चित्रण।'

कामदी का मूलभाव 'हास्य' है, 'हर्ष' नहीं । परवर्ती रोमानी सुख (कामद) नाटक अरस्तू की परिभाषा में नहीं आते । इस दृष्टि से कॉमिडी के लि प्रयुक्त हमारा पर्याय 'कामदी' वास्तव में उसके स्वरूप से दूर है, परन्तु इसका प्रयोग अर्थ साम्य की अपेक्षा ध्वनि-साम्य के आधार पर रूढ़ हो किया है ।

'कामदी' का विषय व्यक्तिगत न होकर प्रायः वर्गगत या सार्वजनीन होता है । इस दृष्टि से अवगीति से कामदी भिन्न होती है, क्योंकि अवगीति लक्ष्य जहाँ व्यक्तिगत दोष होते हैं, वहाँ कामदी के लक्ष्य प्रायः सार्वज दोष होते हैं । अतएव कामदी की कथावस्तु प्रसिद्ध न होकर प्रायः काल्पनि या उत्पाद्य ही होती है ।

अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त

'विरेचन' शब्द अंग्रेजी के Catharsis 'कैथार्सिस' शब्द का अनुवाद है वस्तुतः यूनान के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री 'अरस्तू' ने अपनी प्रसिद्ध-काव्यधारणा के प्रसग मे इस शब्द का प्रयोग किया था, किन्तु अंग्रेजी मे इसका समु पर्यायवाची शब्द न मिल सकने के कारण अंग्रेज विद्वानो ने इस यूनानी श को ज्यों का त्यों इंगलिश मे गृहीत कर लिया । हिन्दी मे 'विरेचन' शब्द क 'कैथार्सिस' शब्द का पर्यायवाची माना जाता है । इसका कारण यह है संस्कृत मे 'विरेचन' शब्द चिकित्साशास्त्र मे "रेचक औषध द्वारा उदरविक की शुद्धि" इस अर्थ मे प्रयुक्त होता है और लगभग Catharsis शब्द भी इ अर्थ मे प्रयुक्त होता है । इस प्रकार संस्कृत एवं हिन्दी दोनो भाषाओं के ये शब्द तुल्यार्थक हैं ।

काव्य के क्षेत्र मे सर्वप्रथम आचार्य 'अरस्तू' ने अपने दो ग्रन्थों—'राजनीति' 'पोइटिक्स' में 'विरेचन-सिद्धान्त' की चर्चा की है । इनके पूर्ववर्ती आचार्य इनके गुरु 'प्लेटो' ने अपनी प्रसिद्ध-पुस्तक 'रिपब्लिक' में 'काव्य' एवं 'कवि' अनेक आक्षेप किये थे । यथा—

"काव्य मानव वासनाओं का दमन करने के स्थान पर पोषण करता है इस कारण गणतन्त्र में स्थान पाने योग्य नहीं है ।" अरस्तू ने प्लेटो के उक्त

क्षेपो के उत्तर देने मे 'विरेचन-सिद्धान्त' का आश्रय लिया है । यद्यपि उन्होंने
रेचन' (Catharsis) शब्द की कोई परिभाषा नही दी और न कोई ऐसी
ाख्या ही की, जिससे उक्त शब्द का अभिप्राय निर्भ्रान्तरूप से जाना जा
का, किन्तु विद्वानो ने सन्दर्भ के अनुसार 'विरेचन' के अनेक अर्थ लगाकर
स सिद्धान्त की पुष्टि की है ।

रेचन का स्वरूप

अरस्तू ने 'त्रासदी' के प्रसग मे 'कैथार्सिस' का प्रयोग किया है । उन्होने
टो' द्वारा किये गए इस आक्षेप को तो स्वीकार किया–'काव्य वासनाओ
र मनोवेगो का दमन नही करता' किन्तु उन्होने यह नही स्वीकार किया कि
व्य वासनाओ और मनोवेगो का पोषण और सिचन करता है । उन्होने कहा
जिस प्रकार रेचक औषधो द्वारा आन्तरिक विकार निकल जाते हैं और
र शुद्धि हो जाती है, ठीक इसी प्रकार काव्य-नाटक आदि मे मनोभावो की
भिव्यक्ति होने से चित्त की शुद्धि होती है शान्ति मिलती है ।

"Tragedy, then, is an imitation at action that is Serious, omplete and of a Certain magnitude, in Language embellished with each kind of artistic ornament, the several kind eing found in Seperate parts of the Play in the form of ction, not of narative, through pity and fear effecting the oper purgation of these emotions."

('त्रासदी' किसी गम्भीर, पूर्ण एव निश्चित दीर्घ से युक्त कार्य का अनु
रण है, जिसका माध्यम नाटक के विभिन्न रूपो मे प्रयुक्त समस्त आभूषणो से
लकृत भाषा है, जो वर्णनात्मक न होकर कार्य-व्यापार रूप मे होती है और
समे 'करुणा' तथा 'भय' के उत्कर्ष द्वारा इन मनोभावो का उचित विरेचन
Purgation) होता है ।")

इस प्रकार 'त्रासदी' का उल्लेख करते हुए अरस्तू ने लिखा कि त्रासदी
रे प्रक्रिया है । यह हमारे अन्दर करुण तथा भय की भावना को जाग्रत करके
नके मनोवेगो के लिए एक प्रकार का व्यञ्जना-मार्ग प्रस्तुत करती है । काव्य

के विषय मे ही नहीं, अरस्तू ने संगीत का अध्ययन भी 'विरेचन' के आवश्यक माना है। इसका कारण यह है कि इसके माध्यम से भी मनो की अभिव्यक्ति होने से चित्त शुद्धि होती है।

विरेचन का तात्पर्य

प्रायः सभी मनुष्यों के अवचेतन मन में 'मनोभाव' प्रसुप्तावस्था में कि रहते हैं। यदि उनकी अभिव्यक्ति के लिए मार्ग न मिलेगा, तो परिणाम अनेक भयानक रोग हो सकते हैं। काव्य मे उन मनोभावों के व्यक्त ह अवसर मिलता है। वे मनोभाव 'मनोविकार' ही कहलाते हैं। उनके जाने से चित्त को शान्ति मिलती है। इन्हीं मनोविकारों के निकलने व 'विरेचन' है। आयुर्वेद मे 'विरेचन' मल को या विकार को बाहर नि वाली औषध के लिए प्रयुक्त होता है। यथा—'हरीतिका (हर्रे) एक है।' यह विरेचन उदरशुद्धि का साधन है और काव्य या संगीतरूपी 'मन शुद्धि' का साधक है। मन की शुद्धि होने पर ही आनन्द की उ होती है। इस प्रकार अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त के अनुसार काव्या उपलब्धि होती है, अतः काव्य की रचना और उसका पठन-पाठन स लिए अकल्याणकारी न होकर कल्याणकारी ही सिद्ध होता है।

'विरेचन' शब्द के अनेकार्थ

अरस्तू के पश्चात् विद्वानों ने अपने-अपने विचार से 'विरेचन' अनेक अर्थ लगाये है। सामान्यतया हम उन अर्थों को चार वर्गों में वि सकते हैं—१. चिकित्साशास्त्रपरक अर्थ २. धर्मपरक अर्थ ३. नैतिक ४. कलापरक अर्थ। उपर्युक्त चारो प्रकार के अर्थों का विश्लेषण भी अपे क्षित है—

१. **चिकित्साशास्त्रपरक अर्थ**—'विरेचन' शब्द का भारतीय अर्थ 'रेचक औषध' है, जिसके सेवन से उदर विकार बाहर निकल जाते है और उदर के वकार होने से मन भी निर्विकार हो जाता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने ' शब्द का 'लाक्षणिक अर्थ' लिया है। जिस प्रकार उदर-विकार 'विरे- ' के द्वारा उत्तेजित होकर शान्त हो जाते है, उसी प्रकार मनोविकार भी

[illegible] के [illegible] हो जाते हैं । इस प्रकार
[illegible] हुआ । इसका आधार [illegible]
[illegible] है [illegible] का अर्थ [illegible] आदि [illegible] से सम्बन्धित
[illegible] गया ।

२ **धर्मपरक अर्थ**—पाश्चात्य-विद्वान 'गिल्बर्ट मरे' तथा 'मिल्टन' आदि
ने (Catharsis) का धर्मपरक अर्थ माना है । इस प्रकार इसका अर्थ
[illegible] और [illegible] होने पर आत्मिक शुद्धि
[illegible] मानसिक-शान्ति । इस मत की भी एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि है । यूनान में
[illegible] उत्सवों पर नाटकादि का अभिनय होता था और प्राय: ये सभी
[illegible] से सम्बद्ध माने जाते थे । यूनानी जनता इस बात पर विश्वास करती
थी कि नृत्य, संगीत एवं अभिनयादि के द्वारा आत्मा शुद्ध होती है । इस प्रकार
इस दृष्टि से 'काव्य' भी 'आत्मशुद्धि' का कारण माना गया और 'विरेचन'
का अर्थ 'आत्मशुद्धि कारक' समझा गया । यह अर्थ भी गौणी लक्षणा के
आधार पर घटित होता है । प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर भी यह देखा जाता
है कि यदि काव्य या नाटक में 'रसवत्ता' हुई तो दर्शक के चित्त में एक विचित्र
प्रकार की शान्ति प्रतीत होती है ।

३ **नीतिपरक अर्थ**—प्रसिद्ध जर्मन विद्वान 'बार्नेज' ने 'विरेचन' की
नीतिपरक अथवा मनोवैज्ञानिक-व्याख्या की है । ये 'विरेचन' का अर्थ मानते
हैं 'मनोविकारों की उत्तेजना के पश्चात् उनकी शान्ति' । इनका कथन है कि
[illegible] में 'करुणा' और 'भय' नामक मनोविकार अत्यन्त प्रबल हैं, ये दोनों
[illegible]मूलक भाव हैं । ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसमें 'वासनारूप' में या बीज-
रूप में इनकी स्थिति न हो । 'त्रासदी' आदि में इन मनोविकारों का अतिरंजित
रूप प्रस्तुत किया जाता है । पाठक या दर्शक के चित्त में बीज रूप में स्थित
[illegible] मनोविकार 'त्रासदी' के प्रभाव से उद्भूत रूप धारण कर हमारे अवचेतन
से 'चेतनमन' में आकर अभिव्यक्त होते हैं । इस प्रकार इस अभिव्यक्ति से
सारा चित्त विशद होता है और शान्ति की अनुभूति होती है । प्रत्येक दार्श-
निक इस [illegible] से सहमत है कि मनोविकारों के शमन होने पर चित्त में शान्ति

जाती है । इस प्रकार चित्त की शान्ति होने पर आत्मशुद्धि भी होती है

४. कलात्मक अर्थ—अंग्रेजी-साहित्य के रोमान्टिक कवियों एवं

ने 'विरेचन' का कलात्मक अर्थ लगाया है । इनका कहना है कि 'विरे

कला सिद्धान्त का स्वरूप है । 'कामदी' में 'त्रास' अथवा 'करुणा' भाव

विकारों की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं होती । अपितु 'कामदी' हमारे म

को 'कला' के साँचे में ढाल देती है । इस प्रकार कला के भाव के रू

भावों का परिष्कार हो जाता है । वे भाव कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त कर

जिससे मानव में एक विशेष प्रकार की 'आनन्दानुभूति' होती है ।

'कोइटे' ने उक्त अर्थ का संकेत किया था, किन्तु परवर्ती आचार्य 'बु

इसकी विशद-व्याख्या प्रस्तुत की ।

उपर्युक्त सभी अर्थों में सत्य का अंश विद्यमान है । अरस्तू ने 'विरेच

अर्थ केवल आयुर्वेद की परिधि तक ही नहीं सीमित रखा, अपितु उसको

विज्ञान के क्षेत्र तक ले गया है । विरेचन से शरीर शुद्धि होती है, किन्तु

विकारों के विरेचन से आत्मशुद्धि होती है । जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान

ने 'विरेचन' शब्द का 'शुद्धि' अर्थ में ही प्रयोग किया है और 'कैथार्सिन'

का धातुजन्य अर्थ भी 'स्वच्छ करना' या 'चमन करना' अर्थ है ।

विरेचन किसका ?

यहाँ आनुषंगिक रूप से यह प्रश्न भी उतना स्वाभाविक है कि 'विरे

का सम्बन्ध किससे है और किस प्रकार है । यह शंका लगभग वैसी ही है,

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार 'रस' की स्थिति का प्रश्न है । 'विरेचन'

स्थिति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद है । कोई तो 'पाठक'

'दर्शक' के मन में 'विरेचन' की स्थिति मानते हैं और कोई अन्य । 'अरि

अनुसार पाठक या दर्शक के मन में 'विरेचन' होता है और 'रिचर्ड्स' के म

कार भावनाओं की 'समायोजना' का ही नाम 'कैथार्सिस' (विरेचन) है ।

प्रकार भाव तो कवि, पाठक तथा श्रोता एवं द्रष्टा सभी में होते हैं, अतः

के मनोभावों का विरेचन होता है । 'रिचर्ड्स' का यह अर्थ भारतीय रस

'साधारणीकरण' के समकक्ष पहुँचता हुआ प्रतीत होता है ।

काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुन
है।"

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त

"मैं काव्य के सामान्य रूप और उसके विभिन्न प्रकारों का प्रत्येक के मूल
र विचार करते हुए विवेचन करना चाहता हूँ। मेरा विचार है कि सत्काव्य
ए आवश्यक कथानक के सगठन काव्य के अगो की सख्या एव स्वरूप और
प्रकार इस अध्ययन की परिधि मे आने वाले अन्य विषयों का अनुशीलन
। जाये।"

करण के माध्यम

जिस प्रकार कुछ लोग सचेष्ट शिल्प-विधान अथवा केवल अभ्यास द्वारा
रूप या स्वर के माध्यम से विभिन्न विषयो का अनुकरण या अभिव्यजन
है, उसी प्रकार उपर्युक्त कलाओ मे समग्र रूप मे अनुकरण की प्रक्रिया
भाषा अथवा सामजस्य मे से किसी एक या एकाधिक द्वारा सम्पन्न होती है।
एक और कला है जिसमे अनुकरण का साधन केवल भाषा होती है—यह भाषा
हो या पद्य और पद्य मे भी चाहे अनेक छन्दो का प्रयोग किया गया हो या एक का
नु इसका नामकरण अभी तक नही हुआ। हमारे पास कोई ऐसा सामान्य शब्द
है, जिसका एक ओर तो सोफ्रोन और क्सेनारखस के विडम्बन और
तेस के सम्वादो तथा दूसरी ओर द्विमात्रिक छद 'शोक-गर्वितछन्द' या ऐसे
किसी अन्य छन्द मे रचित काव्यात्मक अनुकृतियो के लिये समान रूप से
योग किया जा सके। छन्द के नाम के साथ 'रचयिता' या 'कवि' शब्द जोड
या जाता है और शोक-गीति-कवियों अथवा महाकाव्य कवियो की चर्चा की
ती है। मानो वे अनुकृति के नही, वरन् छन्द के ही आधार पर निर्विवेक
प से कवि-पद के अधिकारी हों।

अनुकरण के विषय

अनुकरण के [...] हैं और ये व्यक्ति या तो उच्चतर
कोटि के होंगे [...] जिन मुख्यत नैतिक आचरण

आती है । इस प्रकार चित्त की शान्ति होने पर आत्मशुद्धि भी होती है।

४. कलापरक अर्थ—अंग्रेजी-साहित्य के रोमाण्टिक कवियों एवं इनेरे[illegible] ने 'विरेचन' का कलापरक अर्थ लगाया है । इनका कहना है कि 'विरेचन' [illegible] कला सिद्धान्त का व्यंजक है । 'त्रासदी' मे 'त्रास' अथवा 'करुणा' नामक [illegible] विकारो की केवल अभिव्यक्ति ही नही होती । अपितु 'त्रासदी' हमारे मनोभ[illegible] को 'कला' के साँचे मे ढाल देती है । इस प्रकार कला के भाव के रूप में [illegible] भावो का परिष्कार हो जाता है। ये भाव कलात्मक उत्कर्ष प्राप्त कर लेते [illegible] जिनके माध्यम से एक विशेष प्रकार की 'आनन्दानुभूति' होती है। [illegible] 'गोइटे' ने उक्त अर्थ का संकेत किया था, किन्तु परवर्ती आचार्य 'बूर[illegible]' इसकी विशद-व्याख्या प्रस्तुत की ।

उपर्युक्त सभी अर्थों मे सत्य का अंश विद्यमान है । अरस्तू ने 'विरेचन' [illegible] अर्थ केवल आयुर्वेद की परिधि तक ही नही सीमित रखा, अपितु उसको [illegible] विज्ञान के क्षेत्र तक ले गया है । विरेचन से शरीर शुद्धि होती है, किन्तु [illegible] विकारो के विरेचन से आत्मशुद्धि होती है । जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान '[illegible]' ने 'विरेचन' शब्द का 'शुद्धि' अर्थ मे ही प्रयोग किया है और 'कैथार्सिस' का धातुजन्य अर्थ भी 'स्वच्छ करना' या 'चयन करना' अर्थ है ।

विरेचन किसका ?

यहाँ आनुषंगिक रूप से यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि 'वि[illegible] का सम्बन्ध किससे है और किस प्रकार है । यह शंका लगभग वैसी ही है [illegible] भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार 'रस' की स्थिति का प्रश्न है । 'विरेच[illegible] स्थिति के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो मे मतभेद है । कोई तो 'पा[illegible] 'दर्शक' के मन मे 'विरेचन' की स्थिति मानते है और कोई अन्यत्र । '[illegible] अनुसार पाठक या दर्शक के मन मे 'विरेचन' होता है और 'रिचर्ड्स' के [illegible] सार भावनाओं की 'समाधानता' का ही नाम 'कैथार्सिस' (विरेचन) है [illegible] प्रकार भाव तो कवि, पाठक तथा श्रोता एवं दृष्टा सभी मे होते है, [illegible] मनोभावों का विरेचन होता है । 'रिचर्ड्स' का यह अर्थ भारतीय [illegible]करण' के समकक्ष पहुँचता हुआ प्रतीत होता है ।

रेचन और आनन्द

प्रश्न यह है कि 'त्रासदी' तो दुःख या भय से परिपूर्ण रचना है, पुनः
स्तू के 'विरेचन सिद्धान्त' के अनुसार इससे आनन्दानुभूति किस प्रकार होती
इसके उत्तर में अरस्तू ने कहा है कि मनोभावों का विरेचन होने से शोक
र भय का उद्वेजक अंश निकल जाता है, इससे पाठक, श्रोता अथवा दर्शक
त्मिक शान्ति का अनुभव करता है, तत्पश्चात् उसे आनन्द की अनुभूति होती
। इस प्रकार आनन्द की अनुभूति को दो प्रकार से मान सकते है—एक तो
त्मक पद्धति द्वारा और द्वितीय अभावात्मक पद्धति द्वारा। प्रथम में तो
वेगों के उत्तेजित होकर उनके बहिर्भूत होने के पश्चात् शान्ति का अनुभव
र तदनु आनन्दानुभूति होती है तथा द्वितीय के अनुसार 'विरेचन' होने से
खाभाव' हो जाता है, यही दुःखाभाव ही शान्ति का जनक है, जिसे आनन्द
संज्ञा दी जाती है। प्रो० बूचर के अनुसार 'करुणा और 'त्रास' लौकिक
वन में दुःखद हैं, किन्तु काव्य या 'त्रासदी' में 'दुःखद' नही है, क्योंकि उनका
धारणीकरण' हो जाता है। अपने-पराये का भेद रहने पर ही दुःख उद्वेजक
ता है, किन्तु साधारणीकरण की स्थिति मे पाठक, श्रोता अथवा दर्शक स्वार्थ
' निम्नभूमि से उठकर उच्च धरातल मे प्रतिष्ठित हो जाता है, जहाँ उसे
रुणा' एवं 'त्रास' के भाव भी उदात्तरूप में आनन्दप्रद लगते है। यदि ऐसा न
, तो लोग पैसा खर्च करके 'करुणनाटक' देखने के लिए क्यों जायें ? इस
रण के अतिरिक्त 'बूचर' ने 'विरेचन' मे आनन्दानुभूति का द्वितीय कारण यह
ताया है कि 'कला' की ऐसी विशेषता है कि उसमे करुणादि भावों का
र्व्यक्तीकरण हो जाता है, जिससे उक्त भाव सुखद प्रतीत होते है। इस प्रकार
'बूचर' ने कला की महत्ता स्वीकार की है, जो वस्तुतः समुचित प्रतीत
ती है।

विरेचन सिद्धान्त के दोष

कुछ विद्वानों का आक्षेप है कि 'त्रासदी' द्वारा भावों की उत्तेजना होती है,
न्तु उनका शमन हो जाता है, यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता। इस आक्षेप
ा उत्तर स्पष्ट है कि यदि 'त्रासदी' में 'उत्तेजना' का शमन न हो, तो दर्शक

यही बात काव्य या 'त्रासदी' में भी है । हमारे चित्त में बीजरूप में स्थित ग आदि भाव उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो जाते हैं, जिससे चित्त को शान्ति त जाती है ।

इस प्रकार इस सिद्धान्त ने 'मनोविज्ञान' के क्षेत्र में प्रवेश कर आगामी वेषकों का पथ प्रशस्त कर दिया । 'आई० ए० रिचर्ड्स' के 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' की आधारशिला के रूप में अरस्तू के 'विरेचन–सिद्धान्त' को गौरव मिलना ही चाहिए ।

रेचन सिद्धान्त की रूपरेखा तथा निष्कर्ष

१–विरेचन-सिद्धान्त के जन्मदाता 'अरस्तू' थे । इन्होंने प्लेटो द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर देने के लिए इस सिद्धान्त का प्रणयन किया था ।

२–'विरेचन' शब्द (Catharsis) यूनानी भाषा से अंग्रेजी में यथावत् ले लिया गया है ।

३—'विरेचन' शब्द का धातुजन्य अर्थ 'स्वच्छ करना' 'अथवा 'चयन करना' है ।

४–'विरेचन' का लाक्षणिक अर्थ स्वीकार किया गया है । जिस प्रकार 'रेचक दवा' द्वारा मल उत्तेजित होकर बाहर निकल जाता है और उदर की शुद्धि होती है, उसी प्रकार 'काव्य' द्वारा मनोभाव उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो जाते हैं जिससे उनका परिष्कार होने पर मानसिक शुद्धि और शान्ति होती है ।

५–विद्वानों ने 'विरेचन' की चार प्रकार की व्याख्यायें की हैं —१ दस्तावर दवा के रूप में २. धार्मिक भावना के रूप में ३ नैतिक भावना के रूप में ४ कलात्मकता के रूप में ।

६–अरस्तू ने अपनी 'राजनीति' एवं 'काव्यशास्त्र' नामक पुस्तकों में 'विरेचन' की चर्चा की है ।

७–अरस्तू 'संगीत' को भी 'विरेचन' मानते हैं, क्योंकि इससे भी अन्तर्मनोविकारों का परिष्कार होता है ।

८–'विरेचन-सिद्धान्त' में 'आनन्द प्राप्ति' का सम्बन्ध 'अभावात्मक पद्धति' से स्पष्ट होता है, क्योंकि मनोवेगों का अभाव (शान्ति) ही शान्ति का जनक

माना गया है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

९—इस सिद्धान्त ने काव्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रवेश कराकर नू पथ प्रशस्त किया है।

१०—इससे काव्य का कलंक दूर हुआ है और साहित्यिक तथा मानसि क्षेत्र में काव्य की प्रतिष्ठा हुई है।

११—यद्यपि यह सिद्धान्त शत प्रतिशत सही नहीं है, किन्तु पर्याप्त अं इसकी महत्ता स्वीकार की जाती है।

रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद

अंग्रेजी-साहित्य के मूर्धन्य आलोचकों में 'आई० ए० रिचर्ड्स' का महत्व स्थान है। इन्होंने साहित्य तथा मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध बतला और इस बात की आवश्यकता पर बल दिया है कि साहित्यकार को मनोवि से परिचित होना चाहिए और आलोचक के लिए तो मनोविज्ञान का नितान्त आवश्यक है।

साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व 'रिचर्ड्स' 'मनोविज्ञान' एवं विज्ञान' के क्षेत्र के अध्येता रहे हैं। फलत साहित्य के क्षेत्र मे आने पर भी अपने पूर्व अध्ययन की सामग्री की उपेक्षा नहीं कर सके। आलोचना के में ये पाश्चात्यजगत् मे 'रूपवादी-आलोचक' के नाम से विख्यात हैं, क्योंकि इन 'रूपक' को चिन्तन का आधार माना है। काव्यालोचना के सम्बन्ध में इनके दो ग्रन्थ परम प्रसिद्ध हैं,—(१) काव्यालोचन के सिद्धान्त (Principles of literary Criticism) २—व्यावहारिक आलोचना (Practical Criticism) इन ग्रन्थो मे इन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर काव्यशास्त्र की विभिन्न समस्या ओ का समाधान प्रस्तुत किया है।

इन्होंने यह मान्यता स्थापित की है कि 'साहित्य' एक उपयोगी वस्तु है और उसकी उपयोगिता मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर सिद्ध की जा सकती है। इसी हेतु इनका सिद्धान्त "मनोवैज्ञानिक उपयोगितावाद" के नाम से आलोचना एवं हित्य के क्षेत्र मे विख्यात है। इन्होंने 'मूल्यो' (Values) के साथ साहि म्बन्ध माना है, जबकि परवर्ती रूपवा ो ने जीवन मूल्यों

ा साहित्य का कोई सम्बन्ध नही माना । रिचर्ड्स' ने उन कोरे कलावादियो
भर्त्सना की है, जो कला को स्वतन्त्र, निरपेक्ष और 'स्वत साध्य' मानते हैं ।
न लोगों की इस मान्यता को भ्रान्ति की सज्ञा देते है ।
यता

'रिचर्ड्स' ने यह मान्यता स्थापित की है कि साहित्य हमारे लिए वैसा
उपयोगी है, जैसी जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ । जहाँ तक काव्य की
णीलता का प्रश्न है, वह इसलिए प्रभावशील नही होता कि उसमे प्रेषणी-
का गुण विद्यमान रहता है अथवा उसमे भावविनियोग की क्षमता होती
उसमे कोई विशेष सौन्दर्य होता है, बल्कि वह इसलिए प्रभावशील होता
काव्य मे जो अनुभव व्यक्त रहते हैं, वे उसे प्रभावशील बनाते हैं, इसके
ही साथ उन अनुभवो मे जीवन मूल्य (Life-values) भी स्थूत रहते हैं,
प्रभविष्णुता मे वृद्धि होती है । इस प्रकार रिचर्ड्स ने काव्य मे नीति
र विशिष्ट-स्थान माना है और जिन आलोचको या साहित्यकारों ने नीति
हित्य मे स्थान नही दिया, उनकी भर्त्सना की है । हाँ, इतना अवश्य है
उन्होंने नीति के प्रचलित रूप को सकुचित एव भ्रामक स्वीकार कर उसके
पर जीवन-मूल्यो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है और साहित्य
तथा अध्येता के लिए उन मूल्यो की अवधारणा करना अनिवार्य माना है ।
रिचर्ड्स' ने 'सार्वजनीनता' का गुण [illegible] मानकर भावगत [illegible]
ोकि साहित्य भावविनियोग से परिपूर्ण [illegible] वस्तु है । [illegible]
। रचना स्वान्त सुखा [illegible] 'प्रेषणीयता' [illegible]
द्यमान [illegible] पता है [illegible]
है ।

हम वस्तुओं की ओर प्रवृत्त होते हैं, उन पर हमारी आसक्ति होती है और 'निवृत्ति' या 'विरति' के द्वारा हम सासारिक वस्तुओं से दूर हटते हैं, उनके प्रति एक प्रकार का वैराग्य सा हो जाता है। कोई भी वस्तु ऐसी हो सकती है, जो मूल्यवती हो और जिसकी प्राप्ति से हम संतुष्ट हो सकते हैं। इसमें निश्चित है कि सभी प्रवृत्तियों की तुष्टि असम्भव है, अतः ऐसी कोई भी मूल्यवान वस्तु हो सकती है, जो न्यूनाधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियो को कठिन किए बिना किसी प्रवृत्ति की तुष्टि करे।

'रिचर्ड्स' ने मूल्यो की मान्यता को दृष्टिपथ मे रखकर ही भाषा के वैज्ञानिक एव काव्यगत प्रयोगो के भेद करते हुए शब्दों के दो अर्थों का निरूपण किया है :—(१) साकेतिक अर्थ (२) भावात्मक अर्थ।

साकेतिक अर्थमयी भाषा का स्वरूप वैज्ञानिक होता है, क्योंकि उसमे पारिभाषिक शब्दो अथवा तकनीकी शब्दों का बाहुल्य होता है और इसमें अनिश्चित अर्थ से काम नही चलता। उदाहरणार्थ रेडियो, एक्सरे, टेलीविजन आदि शब्दों में इनका साकेतिक अर्थ ही गृहीत होगा। इसी प्रकार काव्यो में भावना का प्राधान्य रहता है, फलतः काव्य की भाषा 'भावात्मक अर्थमयी' होती है। उदाहरणार्थ—'जीवन विरह का जलजात' (महादेवी वर्मा) यहाँ पर इसका वाच्यार्थ तो यही होगा—'जीवन विरह का कमल है।' किन्तु इसका भावार्थ इससे बहुत कुछ भिन्न है। यहाँ कवयित्री इस बात को ध्वनित करती है कि वस्तुतः जीवन का मूल विरह है, यदि विरह न रहे तो जीवन की सत्ता भी न रहेगी। इस प्रकार 'रिचर्ड्स' ने काव्यभाषा को यदि 'भावात्मक अर्थमयी भाषा' की संज्ञा दी है, तो सर्वथा उचित ही किया है। उन्होने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है —

काव्य की परिभाषा

कविता कवि के मन मे उत्पन्न होने वाले एक मूल्यवान् मनोवैज्ञानिक-अनुभव को पाठक के मन मे प्रेषण करने का साधन है।

यद्यपि 'रिचर्ड्स' का 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' एकांगी प्रतीत होता है क्योंकि यह कला के क्षेत्र मे उन मूल्यों को ही मान्यता देता है, जिन्हे हम मनोवै

नही देते । वे कवि को एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति वस्तुनिष्ठ मानते उनका कथन है कि काव्य या साहित्य मे सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति हं चाहिए । यद्यपि साहित्यकार अपने ही अनुभवो को काव्य, साहित्य मे बा देता है, किन्तु यहाँ उसके अनुभव सर्वसाधारण के अनुभवो का प्रतिनिधि करके व्यक्त होते हैं । यथा—"मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों अपना कुछ अश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता कि वह अपने निर्मित पात्रो द्वारा स्वय प्रभावित होता है ।" निष्कर्ष यह इलियट मानते हैं कि—'साहित्य अमूर्त भावनाओ का मूर्तरूप है ।' साहित्यक अपनी अमूर्त—भावनाओ को मूर्तरूप मे अभिव्यक्ति देने के लिए, अपने सम्वेद एव अनुभवो को प्रकट करने के लिये वस्तुमूलक चिह्नों की सहायता ले है । *यथा :—*

"The only ways of expressing emotion in the form of a is by finding an objective, in otherwards, a set of objects, situation, a chain of events which shall be the formula t tha Particular emotion, so that when the external facts. are given the emotion is immediately evoken."

इस प्रकार इलियट ने साहित्य या काव्य को आत्मा से पलायन के रूप में स्वीकृति दी है । यहाँ पर *'पलायन' का तात्पर्य व्यक्तिगत* भावो के पलायन से ही है, जिससे कवि सर्वसाधारण के भावो को काव्य में व्यक्त करे, किन्तु इनके परवर्ती कवियो ने इसका तात्पर्य 'ससार से पलायन करना' लगाया, जिससे निराशावाद की सृष्टि होने लगी ।

---- की भाषा

नाटक की भाषा के सम्बन्ध मे 'इलियट' की धारणा है कि का ही प्रयोग करना चाहिए, पद्य का नहीं । इसका कारण यह माध्यम से विचारो की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार ५। उच्चगुणो से अलकृत होनी चाहिए । जहाँ तक काव्य में । प्रश्न है, उसे अतिरजना की श्रेणी तक नही ले जाना चाहिए । इस

न 'इलियट' विचारों की तीव्रता के स्थान पर कलात्मक-प्रक्रिया की तीव्रता
दे देते हैं। कलात्मक प्रक्रिया संवेदन की ही प्रक्रिया है और सृष्टि की भी
प्रकार ये दोनों अभिन्न हैं। जब हमारे आवेग भावना की तीव्रता की
सीमा पर और कलात्मक-प्रक्रिया के अनुरूप दबाव के नीचे सन्तोषज-
रीति से अभिव्यक्त होते हैं, तब ही कविता असाधारण एवं सार्थक बनती
। इलियट ने इसे 'उपमांश' की संज्ञा दी है। इसकी उपलब्धि तभी होती
जब भावना और विचार में विभिन्नता हो। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम
अतः कवि को अभिलषित भावों की अभिव्यक्ति के लिए सांकेतिक एवं अप्र-
स्तुत शैली का आश्रय लेना ही पड़ता है। इस स्थिति में भाषा को सबल रखना
नितान्त आवश्यक हो जाता है।

कवि और कविता

'इलियट' काव्य रचना के सम्बन्ध में कवि के हृदय का विशेष मूल्य मानते
। उनकी मान्यता है कि—'कवि मानस वह पात्र है, जिसमें असंख्य भाव एवं
द गृहीत और संचित होते हैं और उसमें तब तक बने रहते हैं, जब तक ऐसे
भी तत्त्व एक साथ एकत्र नहीं हो जाते और एक नवीन पदार्थ का निर्माण
ही कर पाते। इस प्रकार इलियट कवि हृदय को विभिन्नभावों के केन्द्रबिन्दु
रूप में मान्यता देते प्रतीत होते हैं। कवि हृदय को यह गौरव प्राप्त है कि
अनेक अनुभवों विभिन्न अध्ययनों एवं चिरन्तन ज्ञानतन्तुओं को एकत्र कर
हें एक नवीन एवं सजीव रूप में अभिव्यक्त कर देता है।

'इलियट' कवि को केवल वर्तमान का दृष्टा ही नहीं मानते, वे उसे अतीत
भी सम्बद्ध मानते हैं। यथा—"किसी कवि को रचना करनी चाहिए तो न
वल अपनी पीढ़ी को ही अपनी हड्डियों में लेकर, बल्कि इस भावना के साथ
'होमर' से लेकर योरोप का समस्त साहित्य और उसके अन्तर्गत उसमें स्व-
न तथा विदेश का समस्त साहित्य एक कालीन अस्तित्व रखता है और अभिन्न-
र्वता तथा व्यवस्था का निर्माण करता है।" इस प्रकार इलियट ने काव्य के
न्दर से सकीर्णता को निकाल दिया है। उनकी दृष्टि में देश और काल की
सीमायें क्षुद्र हैं, संकुचित हैं। कवि के लिए समस्त मानवता आधार बिन्दु है।

काव्यालोचना

इलियट स्वयं एक सफल कवि एवं आलोचक भी थे। उन्होंने कवि में दो शक्तियों का होना आवश्यक बतलाया है।—१. कारयित्रीशक्ति २. भावयित्रीशक्ति। ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे की पूरिका हैं। प्रथम के द्वारा कवि रचना करता है और द्वितीय के द्वारा वह उसे आलोचना की कसौटी पर तौलता है कि मैंने जिन भावों को हृदय में रखकर रचना की है, क्या वस्तुतः वही भाव श्रोता या पाठक के हृदय में भी उमड़ सकते हैं, यदि हाँ, तब तो काव्य श्रेष्ठ है, अन्यथा नहीं। इलियट ने आलोचना की दो सैद्धान्तिक सीमायें स्वीकार की हैं '—प्रथम के द्वारा हम बात का उत्तर देने का यत्न करते हैं कि 'कविता क्या है ? और द्वितीय के द्वारा यह उत्तर देना चाहते हैं कि "क्या यह उत्कृष्ट कविता है ?" इसमें कोई भी सैद्धान्तिक-कौशल द्वितीय प्रश्न का उत्तर देने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं हो सकता जो उत्कृष्ट कविता के प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित न हो। लेकिन दूसरी ओर कविता का हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बहुत दूर तक विवेचन के सामान्यीकरण पर आश्रित रहता है।"

इस प्रकार 'इलियट' काव्य को जीवन से पलायन मानते हैं और कवि को वर्तमान के साथ अतीत द्रष्टा भी मानते हैं। उनके अनुसार ,कवि को स्वयं अपनी आलोचना करनी चाहिए, जैसा कि उन्होंने स्वयं किया है। आलोचना का उद्देश्य 'सहृदय में रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न करना, होना चाहिए।

३ | काव्य के विभिन्न रूप

इन्द्रियों के ग्रहण की दृष्टि से काव्य के दो भेद होते हैं — (१) दृश्यकाव्य (२) श्रव्यकाव्य। 'दृश्यकाव्य' अभिनय प्रधान होते हैं, नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से इनका रसास्वादन किया जाता है। इसके अन्तर्गत रूपक और उसके १० भेद तथा उपरूपक और उसके १८ भेद आते हैं पर वर्तमान समय में इन सब का प्रचलन नहीं है। अब दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक, एकांकी, गीतिनाट्य, भावनाट्य, और छायानाट्य ही आते हैं।

श्रव्यकाव्य (पाठ्यकाव्य) कर्णेन्द्रिय की सहायता से सुने जाते हैं, इनका अभिनय नहीं हो पाता। इन्हें पढ़कर भी आनन्द लिया जा सकता है, अतः इन्हें पाठ्यकाव्य भी कह सकते हैं। इस श्रेणी में गद्य, पद्य तथा मिश्र (चम्पू) ये तीन भेद होते हैं। वर्तमान समय में गद्य के अन्तर्गत गद्यकाव्य, कहानी, उपन्यास, लघुकथा, रेडियो रूपक, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, जीवनकथा, निबन्ध, यात्रा साहित्य, पत्रसाहित्य, आलोचना साहित्य एवं दैनन्दिनी (डायरी) इन्टरव्यू, साहित्यिक इतिहास प्रभृति विधायें प्रचलित हैं।

पद्यकाव्य के तीन भेद किए जाते हैं — (१) प्रबन्ध काव्य (२) मुक्तक काव्य (३) मुक्तक गीत।

किन्तु खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक घटना अथवा अंश का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। 'एकार्थक काव्य' इन दोनों के बीच की विधा है, इसमें किसी संक्षिप्त प्रसंग या घटना को एक विस्तृत कविता के रूप में प्रकट किया जाता है। इसमें कथावस्तु का क्रम विद्यमान रहता है, अतः इसे मुक्तक से भिन्न मानते हैं।

मुक्तककाव्य— जिस संक्षिप्त गीत, छन्द या गीति में पूर्वापर प्रसंग के बिना ही कोई भावचित्र, वस्तुचित्र या किसी एक तथ्य का प्रकाशन होता है, उसे मुक्तक काव्य कहते हैं। जैसे—सूर, तुलसी, मीरा के पद, बिहारी आदि के दोहे एवं विद्यापति, प्रसाद, पन्त, निराला आदि के गीत। मुक्तक के तीन भेद माने हैं:— (१) गीत (२) छन्द (३) गीति।

गीतकाव्य— सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिनेचुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। (महादेवी वर्मा)

छन्दकाव्य— किसी सम्वेदन को सीमित शब्दों में अथवा छन्द के माध्यम से व्यक्त कर देना मुक्तक छन्दकाव्य है। यथा कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय आदि।

गीतिकाव्य— इसे 'प्रगीत मुक्तक' भी कहते हैं। इसमें कवि संगीतात्मक छन्दों में स्वानुभूति का तीव्रतम प्रकाशन करता है। उदाहरणार्थ 'मेघदूत' (कालिदास)

गीत और गीति में अन्तर

सामान्यतया दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दोनों में संगीतात्मकता के साथ कलापूर्ण कवि की स्वानुभूति होती है और दोनों में कवि की स्वानुभूतिमात्र की अभिव्यक्ति भी होती है, किन्तु जहाँ गीत में कवि की स्वानुभूति की अतिशयता की तीव्र-अभिव्यक्ति होती है, वहाँ 'प्रगीत' या 'गीति' में स्वानुभूति की अतिशयता की तीव्रतम अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ मीरा और महादेवी वर्मा के गीत 'गीति' या 'प्रगीतमुक्तक' की कोटि में आते हैं और 'प्रसाद' के गीत 'गीत' की कोटि में। तात्पर्य यह कि गीत की अपेक्षा 'गीति' अधिक वैयक्तिक है उसमें कवि का मनोवेग तीव्रतम हो जाता है।

मुक्तक-कोश— इस श्रेणी में कोश-ग्रन्थों के के स्फुटित छन्द आते हैं, जिनमें

कवि की स्वानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता । सम्भवतः इसी कारण इसे काव्य-रूपों में मान्यता नहीं दी जाती । यह विधा अब समाप्तप्राय है ।

मिश्रकाव्य— गद्यपद्य मिश्रित रचना को मिश्रकाव्य कहते हैं । इसे ही 'चम्पू' की संज्ञा प्राप्त है । 'चम्पू' संस्कृत-साहित्य में लिखे जाते हैं । यथा :— नलचम्पू, रामायण चम्पू आदि । हिन्दी में इनकी प्रथा नहीं प्रचलित हो सकी।

काव्य के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त कवि की मनःप्रवृत्ति, जीवनदृष्टि तथा ध्वन्यार्थ आदि के आधार पर अनेक भेद किये जाते हैं, जो किसी न किसी प्रकार इन रूपों के अन्तर्गत ही आते हैं । यहाँ पर हम गद्यकाव्य और पद्यकाव्य के प्रमुख भेदों के रचना सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे । सर्वप्रथम गद्य के क्षेत्र में दृश्यकाव्य की श्रेणी में नाटक का महत्व है, अतः उसी का विवेचन प्रस्तुत है -

नाटक

दृश्यकाव्य में 'नाटक' सर्वाधिक प्रसिद्ध विधा मानी जाती है । वस्तुतः यह 'रूपक' का एक प्रमुख भेद है, परन्तु अब 'रूपक' के स्थान पर 'नाटक' शब्द ही प्रचलित हो गया है । प्रभावकारिता की दृष्टि से काव्य में 'नाटक' को ही सर्वोपरि स्थान मिला है —'काव्येषु नाटकं रम्यम्' । भारतीय नाट्याचार्य भरत ने नाटक की व्यापकता का उल्लेख करते हुए कहा है कि ऐसा कोई योग, कर्म, शास्त्र, कलाशिल्प आदि नहीं, जो नाटक में न पाया जाता हो :—

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्न दृश्यते ।—नाट्यशास्त्र
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥

नाटक के लक्षण

भारतीय परम्परा के अनुसार 'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने 'नाटक' के ये लक्षण बतलाये हैं —

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धि समन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादि गुणवद्युक्तं नाना विभूतिभिः ॥ १ ॥
सुखदुःख समुद्भूति र्नानारस निरन्तरम् ।
पञ्चाधिका दशपरा स्तत्राङ्का परिकीर्तिताः ॥ २ ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षि धीरोदात्तः प्रतापवान् ।

दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ ३ ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ ४ ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धं तस्य प्रकीर्तितम् ॥ ५ ॥

अर्थात् नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होनी चाहिए और पंचसन्धियों [illegible] संयुक्त हो, जिसमें [illegible] हो। उसमें विलास समृद्धि आदि गुण हों तथा अनेक विभूतियों का वर्णन हो। सुख-दुःख की उत्पत्ति हो और निरन्तर अनेक रसों का परिपाक हो। नाटक के अंक कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस तक होने चाहिए। इसका नायक प्रख्यातवंश का राजर्षि धीरोदात्त प्रतापवान् अलौकिक (देवादि) अथवा दिव्यादिव्य (देवावतार पुरुष) एवं गुणी व्यक्ति होना चाहिए। नाटक में शृंगार अथवा वीर रस की प्रधानता हो और अन्य रस गौण होने चाहिए। निर्वहण सन्धि (उपसंहृति पञ्चम सन्धि) में अद्भुत रस होना चाहिए। नाटक में केवल चार या पाँच पुरुष (पात्र) कार्य-व्यापार में मुख्य होने चाहिए और इसकी रचना गोपुच्छ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए।

नाटक के उपर्युक्त लक्षण आज की परिवर्तनशील परिस्थितियों में अनुकूल नहीं रह गए हैं। पाश्चात्य प्रभाव के कारण सम्प्रति नाटक का प्रचलित रूप प्राचीन मान्यताओं से बहुत कुछ भिन्न प्रतीत होता है।

नाटक के तत्त्व

सामान्यतया लोग यह जानते हैं कि भारतीय विद्वान नाटक के तीन ही तत्त्व मानते हैं :– (१) वस्तु (२) नेता (३) रस

"वस्तुनेता रसस्तेषां भेदकाः" (दशरूपक)

किन्तु वास्तविकता यह है कि आचार्य भरत ने 'अभिनय' को विशिष्ट महत्व दिया है, उसके बिना तो नाटक खेला ही नहीं जा सकता। इस प्रकार प्रकारान्तर से 'अभिनय' भी नाटक का अनिवार्य अंग या तत्त्व सिद्ध होता है। इसी के अन्तर्गत 'सम्वाद' (कथोपकथन) 'भाषाशैली' तथा 'देशकाल-वातावरण' (नाट्य-

दृश्य प्रबन्ध तथा अभिनय) आ जाते हैं । इस प्रकार भारतीय नाट्यतत्वों औ पाश्चात्य नाट्यतत्त्वों में लगभग ऐक्य है, पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने 'केव रस' को 'तत्त्व' के रूप में जानने का प्रयास नहीं किया ।

जहाँ तक 'उद्देश्य' तत्त्व का प्रश्न है, उसका उल्लेख तो नहीं किया ग किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) में से किसी की प्राप्ति का लक्ष्य या उद्देश्य तो बहुत पहले से मान्य है । इस प्रकार भारत मतानुसार नाटक के तत्त्व इस प्रकार हैं :—

(१) कथावस्तु (२) पात्र (३) रस (४) उद्देश्य (५) अभिन

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों के अनुसार नाटक के सात तत्त्व इस प्रकार हैं

(१) कथावस्तु (Plot) (२) पात्र-चरित्रचित्रण (Characters) (३) सम्व (Dialogue) (४) देशकाल-वातावरण (Atmosphere and environme (५) उद्देश्य (Purpose) (६) भाषाशैली (Language and style) (७) अभि (Stage-acting)

यदि समन्वय की दृष्टि से 'रस' को भी सम्मिलित कर लिया जाय नाटक के ८ तत्त्व माने जा सकते है ।

कथावस्तु

भारतीय आचार्यों ने इस तत्त्व पर विस्तृत एवं गम्भीर विचार प्रस्तुत कि है । मुख्यतया कथावस्तु के दो प्रकार हैं :—

(क) आधिकारिक कथावस्तु :— जिस कथा के सूत्र आदि से अन्त बने रहते हैं, वह आधिकारिक कथावस्तु कहलाती है । इसका सम्बन्ध क्या मुख्य नायक से होता है । इस प्रकार इसे मुख्यकथावस्तु भी कह सकते हैं ।

(ख) प्रासङ्गिक कथावस्तु— जो कथायें मुख्य कथा की सहायिका के में प्रसगवश बीच मे आ जाती है, उन्हे प्रासङ्गिक कथावस्तु कहते हैं । ये प्रकार की होती हैं :— (१) पताका (२) प्रकरी ।

पताका— वह प्रासगिक कथावस्तु है जो मुख्य कथावस्तु के साथ अन्त ी है । जैसे—'चन्द्रगुप्त' नाटक मे 'सिंहरण' और 'अलका' का कथा 'रामायण' मे 'हनुमान' का कथानक ।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।

मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥

अर्थात् जो कथावस्तु इतिहास-पुराणादि से प्राप्त हो या लोक प्रसिद्ध हो उसे 'प्रख्यात' कहते हैं। जो कथावस्तु पूर्णतया कविकल्पना प्रसूत हो उसे 'उत्पाद्य' कहते हैं और जिस कथावस्तु में प्रख्यात तथा उत्पाद्य अर्थात् इतिहास व कल्पना का मिश्रण हो उसे 'मिश्र' कथावस्तु कहते हैं। नाटककार प्रायः मिश्र का प्रयोग करते हैं।

'नाटक' में कथाविकास या कार्यव्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थायें मानी गई हैं :-

कार्य-अवस्थाएं

१ प्रारम्भ २. प्रयत्न ३ प्राप्त्याशा ४ नियताप्ति ५ फलागम ।

१ **प्रारम्भ**- नाटक के प्रारम्भ में मुख्य फल की इच्छा का प्रकट होना ही प्रारम्भ है।

२ **प्रयत्न**- मुख्य फल की प्राप्ति के लिए संघर्ष तथा यत्न करना 'प्रयत्न' है।

३ **प्राप्त्याशा**- जहाँ प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मुख्यफल के प्राप्त होने की सम्भावना हो जाय, वहाँ 'प्राप्त्याशा' है।

४. **नियताप्ति**-जब सभी विघ्नों के दूर हो जाने पर मुख्यफल की प्राप्ति निश्चित हो जाय, तब वहाँ 'नियताप्ति' होती है।

५ **फलागम**-जब सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय तो वह 'फलागम'

३ पताका– वह प्रासंगिक कथा है, जो प्रधान कथा को विकसित करने के लिए अन्त तक चलती है।

४. प्रकरी– वह लघुकथा होती है, जो प्रधानकथा के साथ कुछ दूर चल कर समाप्त हो जाती है।

५. कार्य– इसमें नायक अपने मुख्य लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों में अन्तर– अवस्थायें कार्यसिद्धि की श्रेणियाँ ...र अर्थप्रकृतियाँ कार्यसिद्धि की साधन है।

...च संधियाँ

...क ही प्रधान प्रयोजन के लिए बीच के अवान्तर प्रयोजनों की सिद्धि का ...'सन्धि' है। प्राय: एक-एक अवस्था क्रमशः एक-एक अर्थप्रकृति से मिलकर ...क सन्धि को जन्म देती है। सन्धियाँ भी ५ है :–

१. मुख २ प्रतिमुख ३ गर्भ ४ विमर्श ५ निर्वहण

...र्थ-प्रकृति	अवस्था	सन्धि
बीज	१ आरम्भ	१ मुख
बिन्दु	२ यत्न	२ प्रतिमुख
पताका	३ प्राप्त्याशा	३ गर्भ
प्रकरी	४ नियताप्ति	४ विमर्श
कार्य	५ फलागम	५ निर्वहण

...टि :– एक 'अर्थप्रकृति' और एक 'कार्यावस्था' मिलकर एक 'सन्धि' को ...ती है, यह कोई अकाट्य नियम नहीं है। प्राय ऐसा देखा जाता है कि ...टकों में 'प्रकरी' होती ही नहीं है।

. मुखसन्धि– इसमें कथावस्तु का प्रारम्भ होता है, बीज अर्थ प्रकृति ...आरम्भ' कार्यावस्था का संगम रहता है।

प्रतिमुखसन्धि– इसमें नायक के फल की प्राप्ति कभी लक्षित और ...अलक्षित प्रतीत होती है।

गर्भसन्धि– इसमें नायक का मुख्य फल निहित होता है। विघ्नों के ...र भी प्राप्ति की सम्भावना बनी रहती है।

४ विमर्श सन्धि— इसमें मुख्यफल की प्राप्ति की आशा हो जाती है, किन्तु शापादि के कारण कुछ बाधा पड़ जाती है।

५ निर्वहण सन्धि—इसमें नायक को अपने मुख्यफल की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष—नाटकों में उपर्युक्त पंच अवस्थाओं, पंच अर्थप्रकृतियों और पंच सन्धियों का वास्तविक निर्वाह होना कठिन है। वर्तमान परिस्थितियों में तो कथावस्तु के विकास की पाँच अवस्थाओं का ही निर्वाह हो पाता है।

अभिनय के आधार पर कथावस्तु दो प्रकार की होती है—१. दृश्य २. सूच्य, दृश्य कथावस्तु से तात्पर्य उस कथानक से है, जिसका अभिनय रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सके और 'सूच्य' कथावस्तु का तात्पर्य उस कथानक या उन बातों से है, जिनको रंगमंच में न दिखलाकर उनकी सूचनामात्र दी जाय क्योंकि नाट्यशास्त्र में कुछ ऐसी बातें हैं जो रंगमंच में प्रदर्शित करने के लिए वर्जित हैं। उदाहरणार्थ मृत्यु, विवाह आदि।

> दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
> विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्यु रतिस्तथा॥
> दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्।
> शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्॥
> स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः॥

अर्थात् दूर बुलाना, वध, युद्ध राज्य और देशादि का विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रति, दन्तक्षति, नखक्षति तथा लज्जास्पद कार्य, शयन, अधरपानादि, नगरादि का घेरा डालना, स्नान, अनुलेपन आदि नाटक में वर्जित हैं और अतिविस्तार भी वर्जित है।

विशेष

आधुनिक नाटकों में वध, युद्ध, विप्लव, विवाह, शाप आदि अनेक दृश्य दिखलाये जाते हैं, परन्तु वस्तुत. ये वर्ज्यदृश्य अव्यवस्था फैलने के भय अथवा अश्लीलता के सकोच से वर्ज्य माने जाते रहे है। आधुनिक चलचित्रों में तो किसी भी दृश्य का प्रदर्शन वर्ज्य नही माना जाता। प्राचीन नाटकों में इन वर्जित दृश्यो की सूचनामात्र दे दी जाती थी, इन्ही को 'अर्थोपक्षेपक'

[illegible] ।

अर्थोपक्षेपक

नाटक में जिन बातों दृश्यों को प्रत्यक्ष नहीं दिखलाया जा सकता था, वे [illegible] कहलाते थे, क्योंकि उनके [illegible] इन दृश्यों या घटनाओं की सूचना [illegible] के माध्यम से दे दी जाती थी । इन सूच्य स्थलों को ही 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। इनके ५ भेद हैं—(१) विष्कम्भक (२) चूलिका (३) अंकास्य (४) अंकावतार (५) प्रवेशक ।

१ विष्कम्भक—इसमें दो अप्रधान पात्रों के माध्यम से पूर्व अथवा भावी घटने वाली घटना की सूचना वार्तालाप द्वारा दिलाई जाती है। यह दो अंकों के बीच में अथवा नाटक के प्रारम्भ में रखा जाता है।

२ चूलिका-इसमें पर्दे के पीछे से किसी बात की सूचना दी जाती है।

३ अंकास्य-इसमें अंक के अन्त में उन्हीं पात्रों द्वारा अगले अंक की विषय की सूचना दी जाती है।

४. अंकावतार-इसमें अंक के अन्त में पात्र ही अगले अंक में आ जाते हैं।

५. प्रवेशक-दो अंकों के बीच में नीच पात्रों द्वारा किसी घटना की सूचना दिलाने में 'प्रवेशक' का प्रयोग होता है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

नाटककार अपने पात्रों के माध्यम से ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है, अतः नाटक में इनका विशिष्ट स्थान है। पाश्चात्य नाटकों में तो पात्रों के मध्य 'नायक' कल्पना होने पर भी उसके स्वरूप का कोई निर्धारण नहीं हुआ, किन्तु भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने पात्रों में 'नायक' के स्वरूप पर निश्चित विचार प्रकट किये हैं। सामान्यतया नाटक में नायक, प्रतिनायक, नायिका तथा शेष अन्य स्त्री-पुरुष पात्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

'नायक' शब्द संस्कृत की 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ ले जाना होता है। वास्तव में 'नायक' ही नाटक की कथावस्तु को आगे बढ़ाता है, अतः इसका 'नायक' नाम यथार्थ है। 'प्रतिनायक' नायक का विरोधी 'खलनायक' होता है, जो नायक के मार्ग पर रोड़े अटकाता है, संघर्ष करता है और अन्ततः

नायक से प्राय. पराजित हो जाता है । 'नायिका' नायक की 'पत्नी' अ
'प्रेयसी' होती है, जो नायक को प्रेरणा देती है और नाटक में आकर्षण
बनी रहती है । इनके अतिरिक्त अन्य पात्र नायक अथवा प्रतिनायक के सह
रूप में आते हैं ।

नायक के लक्षण

भारतीय मान्यता के आधार पर नायक मे निम्नलिखित गुण आव
होते हैं—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्धयुत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वितः ।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक. ॥

—दशरूपक धन

अर्थात् नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रियभाषी, लोक
पवित्र, वाक्पटु, कुलीन, स्थिर, युवक, बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञाकला
मान से युक्त होना चाहिए । वह शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता और धार्मि

प्रकृति के अनुसार नायक के चार प्रकार होते हैं—(१) धीरोदात्त
धीरललित (३) धीरप्रशान्त (४) धीरोद्धत ।

१. **धीरोदात्त नायक**–यह नायक महान् बलवान्, गम्भीर, क्षमावान्, अ
थ्यन (बहुत अधिक न बोलने वाला=मितभाषी) स्थिर, विनम्र तथा
होता है । यथा—श्रीराम, भरत आदि ।

२. **धीरललित नायक**–यह निश्चिन्त, मृदु, कलाप्रिय और सुखी होता
यथा–वत्सराज उदयन' ।

३ **धीरप्रशान्त**–यह सामान्य गुणों से युक्त, शान्तिप्रिय, धैर्यशाली
ब्राह्मणादि होता है । यथा—'मालतीमाधव' का 'माधव' ।

४. **धीरोद्धत**–यह घमण्डी, प्रचण्ड, शूर, मायावी, चंचल, धूर्त, म
छली और आत्मप्रशंसक होता है ।

पत्नियों के आधार पर नायक चार प्रकार के होते हैं—(१) दक्षिण

(१) धृष्टनायक (३) अनुकूलनायक (४) शठ नायक ।

दक्षिण नायक कई पत्नियों के होते हुए भी सब में समान अनुरागी होता है। धृष्टनायक अपराधी होकर भी निर्लज्ज होता है, वह असत्यभाषी, निःशङ्क तथा भौत्सर्न सहिष्णु होता है। अनुकूलनायक एक पत्नीव्रती होता है और शठनायक किसी अन्य नायिका में अनुरक्त रहता हुआ भी अपनी प्रथम नायिका से स्नेह प्रदर्शित करता रहता है।

नायिका

नायिका में भी नायक की भाँति विशेषतायें होती हैं। भारतीय नियमानुसार 'नायिका' नायक की पत्नी या प्रेयसी होती है, पर पाश्चात्य विचारों के अनुसार कोई भी स्त्री 'नायिका' हो सकती है। कर्म, जाति, परिस्थिति, गुण तथा प्रेमादि के आधार पर इनके अनेक भेद किये गये हैं, किन्तु नाटक में परिस्थिति के अनुसार ८ भेद माने गए हैं—

(१) स्वाधीनपतिका (२) कलहान्तरिता (३) अभिसारिका (४) विप्रलब्धा (५) खण्डिता (६) उत्कण्ठिता (७) वासकसज्जा (८) प्रोषितपतिका।

नाटक की सजीवता एवं प्रभावकारिता में 'चरित्रचित्रण' का विशेष महत्व है। जहाँ तक हो सके प्रत्येक पात्र का चरित्रचित्रण मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। तभी उसमें स्वाभाविकता आ सकती है। इसकी तीन विधियाँ हैं—

(१) कथोपकथन द्वारा (२) स्वगतकथन द्वारा (३) पात्रों के कार्यकलाप द्वारा।

इस प्रकार नाटक में चरित्रचित्रण विश्लेषणात्मक न होकर सदैव व्यंग्य होता है। लेखक को यह ध्यान देना पड़ता है कि उसके पात्र स्वाभाविक ढंग से विकसित हो रहे हैं या नहीं। वह अपने पात्रों को अपने हाथ की कठपुतली नहीं बनाता। नाटककार जिन पात्रों के चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन करता है, उसका मनोवैज्ञानिक कारण भी देता है। इसके अभाव में उक्त पात्र में अस्वाभाविकता आ जानी निश्चित है। इस प्रकार प्रत्येक पात्र का चरित्र उसके संस्कार, प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों के अनुकूल प्रस्तुत करना चाहिए।

सम्वाद या कथोपकथन

पात्रों की पारस्परिक बातचीत का नाम सम्वाद या कथोपकथन है। इस नाटककार की कुशलता एवं अभिव्यक्ति-शैली के दर्शन होते हैं। सम्वाद जित ही चुस्त फड़कते हुए; प्रभावशील एवं सूक्ष्म होंगे, नाटक उतना ही चमत्कार पूर्ण लगेगा। उत्तम कथोपकथन में सरलता, सुन्दरता, धारावाहिकता, संक्षि प्तता, पात्रानुरूपता, सार्थकता, चतुरता एव चमत्कारिता के गुण होते हैं। इ सम्वादों द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और कथावस्तु को ग मिलती है। नाटककार को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि उस पात्र एक भी अनावश्यक वाक्य न बोलें, अन्यथा रोचकता मे न्यूनता आ जायगी।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने 'सम्वाद' के तीन भेद बतलाये हैं—(१) सर्व श्राव्य (२) नियतश्राव्य (३) अश्राव्य।

१. **सर्वश्राव्य**—वे सम्वाद कहलाते हैं, जो सबके सुनाने के लिए होते हैं अर्थात् कहने वाला पात्र अपना उक्त कथन सभी को सुनाना चाहता है।

२ **नियतश्राव्य**—इसमे बात कहने वाला पात्र कुछ निश्चित पात्रों क ही वह बात सुनाना चाहता है, क्योंकि उसमें कुछ गोपनीयता रखता है। य दो प्रकार का होता है—(१) अपवारित (८) जनान्तिक। अपवारित मे वक्त पात्र किसी पात्र विशेष को अपनी बात न सुनाने का अभिनय करता हुअ उसकी ओर से मुख फेर कर बात करता है, मानो अपर पात्र उसकी बात सु ही नही रहा। 'जनान्तिक' मे वक्तापात्र तीन उँगलियों की ओट से जनता क ओर मुख करके बात करता है, मानो अन्य पात्र उसकी बात सुनते ही नहीं।

३. **अश्राव्य**–इसमे कोई पात्र अपने अन्तर्द्वन्द्व को स्वत. प्रकट करता है, मान वह किसी को सुना नही रहा। इसे ही "स्वगत कथन" कहते हैं। इसी क 'आकाशभाषित' भी कहते हैं, क्योंकि इसमे पात्र आकाश की ओर देखता हुअ स्वयं अपने से ही बाते करता है। इसमे उसके हृदय की प्रच्छन्न या रहस्यात्म ते प्रकट होती हैं। पाश्चात्य नाटकों मे इसको अस्वाभाविक मानकर ऐस । गया है कि नाटककार किसी पात्र के आन्तरिक गूढ़ विचार को ध्यान

करने के लिए [illegible] के किसी [illegible] विस्मय ध्वनि को प्रस्तुत कर देता है जिसके द्वारा पात्र [illegible] हँसकर [illegible] गम्भीर बात बतला देता है। स्वा-भाविकता की दृष्टि से यह उचित नहीं है।

देशकाल तथा वातावरण

स्वाभाविकता की दृष्टि से केवल 'नाटक' में ही नहीं, अपितु साहित्य की प्रत्येक विधा में देशकाल तथा वातावरण का यथार्थ-चित्रण होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि मुगलकालीन किसी घटना से सम्बद्ध नाटक है, तो उसमें तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति से भिन्न चित्रण करना असंगत एवं अनुचित प्रतीत होगा। इस तत्त्व की अवतारणा तीन प्रकार से की जा सकती है—(१) पात्रों की वेश-भूषा द्वारा (२) पात्रों की भाषा द्वारा (३) तत्कालीन अवस्था के चित्रण द्वारा।

नाटककार को यह ध्यान देना चाहिए कि जिस स्थान में और जिस समय लोग जैसे वस्त्राभूषण धारण करते रहे हों, उसके पात्र भी वैसी ही वेशभूषा धारण करें। इसी प्रकार जिस स्थान में और जिस समय कोई भाषा प्रचलित रही हो, उससे सम्बद्ध पात्र भी वैसी ही भाषा बोलता हो। ऐसा नहीं कि वैदिक-कालीन पात्र 'अंग्रेजी' तथा 'उर्दू' बोलने लगें। ऐसा करने से नाटककार हास्य का पात्र बन जायगा। इसी प्रकार घटना चक्र एवं रगमचादि की रचना भी वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए। पाश्चात्य नाटकों में "सकलन-त्रय" (Three unities) को इसी उद्देश्य से विशेष महत्त्व दिया गया है। 'सकलन-त्रय' के अन्तर्गत 'स्थल की एकता' (unity of place), काल की एकता (unity of time) और 'कार्य की एकता (unity of action) आती है। यह बात दूसरी है कि आज के नाटकों में इनका यथार्थ ढग से पालन नहीं हो पाता।

स्थान की एकता—इसका तात्पर्य यह है कि जिस स्थल की जो घटना जिन व्यक्तियों से सम्बद्ध है, वहीं वहाँ उपस्थित रहें। जो पात्र एक दृश्य में कहीं उपस्थित दिखाये गए हों, वे तुरन्त ही दूसरे दृश्य में किसी दूसरे स्थान पर न दिखाये जाँय, क्योंकि कुछ ही क्षणों में लम्बे स्थान की दूरी तय कर लेना अस्वा-भाविक है।

काल की एकता—इसका तात्पर्य यह है कि घटनाओं के कालक्रम का ध्यान रखना चाहिए। जो घटना पूर्व घटी हो, उसका चित्रण पूर्व और जो पश्चात् घटी हो, उसका पश्चात् चित्रण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटक में प्रद- र्शित दो घटनाओ की समय दूरी इतनी न हो कि दशाब्दियो का व्यवधान हो।

कार्य की एकता—इसका तात्पर्य यह है कि नाटक की कथावस्तु या कोई एक मुख्य सिद्धान्त हो, प्रासगिक कथायें उसमे बाधक न बन जाँय। वस्तुत मुख्यकथा की ही प्रधानता रहनी चाहिए, गौण कथायें उसकी सहायक बनकर रह सकती है।

उद्देश्य

पाश्चात्य नाट्यशास्त्री 'उद्देश्य' को नाटक का मुख्य तत्त्व मानते हैं। उन दृष्टिकोण जीवन का यथार्थ चित्रण करना है। अतः वे नाटक मे सामाजि धार्मिक अथवा राजनीतिक समस्या का उद्घाटन करते हैं। भारतीयनाट्यशास्त्र चतुर्वग (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मे से किसी एक की प्राप्ति को उद्देश्य मान थे। सम्प्रति पाश्चात्य प्रभाव से हिन्दी के नाटको मे भी भौतिक उद्देश्य अभिव्यक्ति देखी जाती है। नाटककार इन भौतिक उद्देश्यों की अभिव्यक्ति पात्र के सम्वादो द्वारा करता है। उसका उद्देश्य जितना ही महान् होगा, उसक कृति भी उतनी महत्वशील होगी। उद्देश्य का सम्बन्ध आन्तरिक एव बाह संघर्षों से होता है, जिसे नाटककार पात्रो द्वारा अभिव्यजित कराता है। अब यह उत्तरदायित्व पाठको पर है कि वे नाटककार का उद्देश्य समझते हैं या नहीं अथवा समझते हैं तो किस मात्रा मे। उद्देश्य की अभिव्यक्ति का एक मार्ग 'कथानक' भी है, जिसके माध्यम से नाटककार का उद्देश्य समझा जाता है। नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति कर सामाजिकों के मन को आकृष्ट कर लेता है और समाज का यथार्थरूप प्रस्तुत कर मानव-समाज की सहानुभूति भी अर्जित करता है।

भाषा-शैली

नाटकों मे 'सम्वाद' सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते हैं और इनको सरल एव

(४) सात्विक ।

आंगिक अभिनय

इसमे पात्र अपने विभिन्न अगों के संचालको से अनेक भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—शारीरिक, मुखज और चेष्टाकृत। शारीरिक अभिनय का तात्पर्य शरीर की विविध गतियो से है। 'मुखज' का तात्पर्य मुख द्वारा व्यक्त किये गये हावभावो से है और 'चेष्टाकृत' का तात्पर्य भावप्रेरित प्रयत्नो की मुद्राओ से है।

वाचिक अभिनय

वाणी द्वारा व्यक्त किये गये भाव इसी श्रेणी मे आते हैं। छन्द शास्त्र व्याकरण, स्वरशास्त्र, सगीतशास्त्र आदि समस्त कलायें इसके अन्तर्गत ले ली गई है। पात्र जो वाणी बोलते है, उसमे इन सब का न्यूनाधिक प्रदर्शन रहता है। इस प्रकार यह अभिनय विशेष व्यापक एव महत्वपूर्ण है।

आहार्य अभिनय

इसके अन्तर्गत पात्रो की वेशभूषा, परिधान, सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री आदि वाह्य वस्तुवें आती हैं। ये साधन पात्र को सुसज्जित कर देते हैं, जिसमे दर्शक पात्र की सुन्दरता (वाह्य अलकरण) से मुग्ध हो जाता है। मन को आहरण करने की क्षमता, इन वाह्य अलकरणो मे होती है, अतः 'आहार्य अभिनय' रूप मे इन्हें भी महत्व दिया गया है।

रस

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने 'रस' को नाटक का प्रमुख तत्त्व माना था पाश्चात्य विद्वान् 'रस' के स्थान पर 'उद्देश्य' को स्वीकार करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि नाटक में सगीत, नृत्य, सम्वाद, अभिनय आदि सभी 'रसपरिपाक' में सहायक होते है। नाटक में शृगार, वीर और करुण में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए, शेष रस गौणरूप में आ सकते हैं। आचार्य 'भरत' . . रस को नाटक के अनुकूल नहीं माना, क्योंकि वह 'विरतिमार्ग' की . . जब कि नाटक अनुरक्ति प्रधान होता है। वस्तु, नेता तथा रग के आ

ने ही दस रूपकों कल्पना हुई थी।

रूपक के भेद

शास्त्रीय आचार्यों ने 'रूपक' के १० भेद और उपरूपकों के १८ भेद स्वीकार किये थे। रंगमंच पर अभिनेय रस भावमय साहित्यिक रचनायें 'रूपक' कहलाईं और केवल नृत्य, नृत्त आदि 'उपरूपक' कहे गए।

रूपक के दस भेद

(१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) व्यायोग (५) वीथी (६) अंक (७) प्रहसन (८) समवकार (९) डिम (१०) ईहामृग।

१ **नाटक**—प्रसिद्ध कथावस्तु हो, पंचसन्धियाँ हों, धीरोदात्त नायक हो, शृंगार अथवा वीर रस अंगी शेष रस सहायक हों, पाँच से १० तक हों, ६४ सन्ध्यङ्ग हों, संक्षेप में ऐसी अभिनयात्मक रचना नाटक कहलाती है। अब ये मान्यतायें ध्वस्त प्राय हैं।

२. **प्रकरण**—यह वह रूपक है, जिसकी कथावस्तु कल्पित होती है, नायक प्रशान्त ब्राह्मण या मन्त्री होता है। शेष बातें नाटक के समान होती हैं।

३ **भाण**—इस एक अंक के रूपक में 'आकाशभाषित' के रूप में कोई धूर्त या चतुर व्यक्ति अकेले ही हास्य-व्यंग्ययुक्त कथावस्तु प्रस्तुत करता है। इसमें मुख सन्धि तथा निर्वहण सन्धि, केवल दो ही सन्धियाँ होती है।

४. **व्यायोग**—इस एक अंक के रूपक में वीररस की प्रधानता होती है, स्त्री पात्रों का अभाव रहता है, कथावस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक होती है। इसमें युद्ध की प्रधानता होती है। मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण, ये तीन ही सन्धियाँ होती हैं।

५ **वीथी**—यह एक अंक का रूपक होता है जिसमें कल्पित कथावस्तु और शृंगार की प्रधानता, दो तीन पात्र, मुख तथा निर्वहण, ये दो सन्धियाँ और कैशिकी वृत्ति होती है।

६ **अंक**—इस एक अंक के रूपक में प्रसिद्ध कथावस्तु करुणरस प्रधान, मुख एवं निर्वहण सन्धियाँ तथा भारतीवृत्ति होती है।

७ प्रहसन–इस एकांकी में हास्य प्रधान, मुग तथा निर्वहण सन्धियाँ धूर्तों एवं पाखण्डियों का हास्यात्मक चित्रण होता है।

८ समवकार–इस तीन अंक के रूपक में वीर रस प्रधान, कोई रोमांचक युद्ध, अनेक प्रमुखपात्र, सब को विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है और 'विमर्श' सन्धि का अभाव होता है।

९. डिम–यह चार अंक का रूपक है, इसमें प्रसिद्ध कथावस्तु, रौद्र रस की प्रधानता, अलौकिकपात्र, १६ पात्र, जादू-टोना, युद्धादि की क्रियायें होती है, किन्तु 'विमर्श' सन्धि नहीं होती।

१० ईहामृग–इसमें चार अंक, शृंगार की प्रधानता, इतिहास और कल्पना में मिश्रत कथावस्तु, धीरोदात्तनायक और प्रतिनायक के साथ संघर्ष का वर्णन होता है।

उपरूपक

१ नाटिका २ त्रोटक ३ गोष्ठी ४ सट्टक ५ नाट्य ६. रासक ७ प्रस्थानक ८. उल्लाप्य ९ काव्य १० प्रेंखण ११. सलापक १२. श्रीगदित १३. शिल्पक १४ विलासिका १५ दुर्मल्लिका १६. प्रकरणिका १७ हल्लीश १८. भाणिका।

विशेष–इनके लक्षण प्राचीन नाट्यग्रन्थो में देखे जा सकते हैं, सम्प्रति इनका प्रचलन नहीं है।

नाटक और उपन्यास में अन्तर

नाटक दृश्यकाव्य है, उपन्यास श्रव्यकाव्य है। नाटक का अभिनय होता है, उपन्यास का नहीं। नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त होती है, उपन्यास की विस्तृत। नाटक में देशकाल का बन्धन रहता है, उपन्यास इससे मुक्त रहता है। नाटक के सम्वाद चुस्त होते हैं, उपन्यास के शिथिल। उसमें तो सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या भी सम्भव है। नाटक में बहुत सी बातें संकेतित होती हैं, पर उपन्यास ...न सब का उल्लेख करना होता है। नाटक का आनन्द 'रंगमंच' पर ही लिया ... है, उपन्यास का आनन्द घर बैठे और यात्रा में भी लिया जा सकता है। ... में कुछ घटनाओं का संकेत मात्र होता है, उपन्यास में उनका विस्तार

...ा है। नाटक में हर वस्तु अभिनीत नहीं हो सकती, क्योंकि रंगमंच की ...स्था के अतिरिक्त प्रसाधन सामग्री सब तरह की नहीं मिल पाती, परन्तु ...ास में यह समस्या नहीं रहती। नाटकीय घटनायें तीव्र एवं अधिक प्रभाव-...होती हैं, उपन्यास में वे मन्दगति पर आधारित होती हैं।

...नाटक में पात्रों का चरित्र व्यंग्य होता है, पर उपन्यास में पात्रों का स्पष्ट ...्र चित्रण होता है। लेखक स्वयं उसका विश्लेषण करता है, जबकि नाटक ...ेखक स्वयं कुछ भी नहीं कहता। नाटक में दृश्यविभाजन होता है, उपन्यास ...ीं। नाटक में अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाशन कम हो पाता है, उपन्यास में इसके ...पर्याप्त स्थान रहता है। नाटक में सीमित पात्र ही स्थान पाते हैं, उपन्यास ...नहीं संख्या अधिक हो सकती है। नाटक के सम्वाद सजीव, सरस एवं ...होते हैं, किन्तु उपन्यास में यह चुस्ती, सरसता और प्रभावकारिता नहीं ...। नाटक में पर्दे, रंगशाला, वेशभूषादि वातावरण के निर्माण में सहायक ...हैं, किन्तु उपन्यास में केवल शब्दों द्वारा ही वातावरण का निर्माण करना ...ा है। नाटक में पाठक को कम कल्पना करनी पड़ती है, उपन्यास में अधिक ...क जीवन की विस्तृत व्याख्या नहीं कर पाता, उपन्यास उसकी विस्तृत ...्या करता है।

इस प्रकार नाटक 'उपन्यास' से उत्कृष्टतर सिद्ध होता है। इसी कारण ...ीय आचार्यों ने इसे 'पंचमवेद' की संज्ञा प्रदान की है।

एकांकी

'एकांकी का प्रचलन तो संस्कृत-साहित्य से ही देखने को मिलता है। इस-...ी की परम्परा में भाण, व्यायोग, वीथी अंक और प्रहसन, ये पाँच भेद एक...र के एकांकी ही हैं, किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में एकांकी की टेक्नीक का प्रच-...है वस्तुत: वह अंग्रेजी-साहित्य की देन है। 'एकांकी' एक स्वतन्त्र विधा है, ...नाटक से भिन्न वस्तु है। इसमें जीवन की किसी विशिष्ट घटना, स्थिति ...र एवं परिस्थिति का मार्मिक चित्रण एक अङ्क के माध्यम से किया जाता है।

...ांकी का स्वरूप

डा० नगेन्द्र के अनुसार "स्पष्टतया एकांकी एक अंक में समाप्त होने वाला

नाटक है और यद्यपि इस अंक के विस्तार के लिये विशेष नियम नहीं है फि
भी छोटी कहानियों की तरह उसकी एक सीमा तो है ही। .... एकांकी में
जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घट
एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्तक्षण का चित्र मिलता है।"

डा० सत्येन्द्र एकाकी के सम्बन्ध मे अपने विचार इस प्रकार रखते हैं
"एकाकी मे एक अक होना चाहिये और एक दृश्य। उसमे स्थल और क
का भी सकलन होना चाहिये। जिन एकांकियो में उनका निर्वाह नही हुआ
वे फोटो के 'आउट आफ फोकस' के चित्र जैसे लगते हैं, जिनमें वस्तु तो आ
दिखाती है पर जिसकी रेखायें अस्वाभाविक रूप से फैलायी होती हैं। उ
स्थल, काल और व्यापार के सकलन मिलने चाहिए। यह तो एकांकी
सीमाओ की स्थापना है। अब उसकी आन्तरिक गति और आन्तरिक शि
की अवस्था देखनी चाहिये। इसमें एक तो प्रारम्भ बहुत छोटा होना चाहि
इसके लिये यह आवश्यक नही कि पर्दा खुलते ही पात्र वस्तु पर टूट पड़े। प
पहले मुख्य वस्तु से किसी भिन्न वस्तु को लेकर आरम्भ हो सकता है
आरम्भकर्ता पात्रों का परिचय देते तो शीघ्र मुख्य वस्तु दृष्टिगोचर हो ज
चाहिये।"

परिभाषा

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने अपने-अपने ढग से एकांकी की परिभ
षायें दी हैं, यहाँ कुछ परिभाषाओ का उल्लेख किया जा रहा है —

१—"एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है उ
केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या चित्रित होती है। कथा
की घटनावली अथवा गौणपरिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का इसमें
स्थान नही होता।"
—सद्गुरुशरण अव

२—एकांकी की समाप्ति एक ही बैठक मे अनिवार्य है। यह एक ही बार
ही समय मे समाप्त होने वाली कृति है। बिजली की रफ्तार भी है उस
है, उसका विषय एक ही होता है, सहायक विषयों के लिये इसमें
न नहीं। एकांकी फौरन प्रारम्भ हो जाता है, शीघ्र ही बिन्दु तक जा पहुँ

होता है और अन्त भी उसी प्रकार आकस्मिक होता है। इसका क्षेत्र
त होता है और प्रभावसाम्य अनिवार्य होता है। इसमें सहायक घटनायें
भी आ सकती हैं, किन्तु वे मुख्य घटनाओं से अलग न जान पड़ें। मेजर
जो कुम्भ सदृश उसका ध्यान आकर्षित करता है, अनिवार्य है। एकांकी
वन जीवन की एक घटना ही है। इसकी कथावस्तु जटिल नहीं होती,
एकांकी का आवश्यक अंग है। एकांकी जरूरी नहीं कि छोटा हो। अवसर
छोटा ही होता है, क्योंकि ऐक्य उसका ध्येय होता है। एकांकी के विषय
समय की विभाजन में ही कल्याण है। —प्रो० अमरनाथ

है—मेरे सामने एकांकी की भावना वैसी ही है जैसे तितली फूल पर बैठकर
जाय। उसकी घटनावस्तु से जीवन मनोरंजन के साथ निखरे रूप में आ
समझने में न तो प्रयास की आवश्यकता हो न थकावट ही, जीवन का
पृष्ठ उलट जाय और उसके उलटते हुये आपके मुख पर सन्तोष और
है। —डॉ० रामकुमार वर्मा

सी प्रकार सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट आदि
ने एकांकी की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, किन्तु एकांकी के क्षेत्र में
धिक प्रयोग हुए हैं और होते जा रहे हैं कि उन सबको किसी एक परि-
में बाँध पाना कठिन है। ऊपर जो परिभाषायें दी गई हैं, उनसे आंशिक
एकांकी के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसी
अपूर्ण परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, जिनमें कुछ परिभाषायें इस प्रकार हैं :—
—'सिडनी बोक्स' ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'टेक्निक आफ वन एक्टप्ले' में
की परिभाषा इस प्रकार दी है —

he one act form is not one which lends itself easily to
subtilty of characterisation. It is essentially concertrated
of purpose, and for this reason impose the strictest dis-
e upon the play-wright who make use of it. It should
t making a single impression, should possess singleness
ation and should concentrate its interest on a single cha-

racter or a group of characters."

अर्थात् एकाकी का स्वरूप ऐसा नहीं होना, जिसमें चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मताओं को महत्व दिया जा सके। इसका एक आवश्यक केन्द्रीभूत उद्देश्य होता है और इस हेतु एकाकी लेखन में कठोर अनुशासन होता है जो इसको प्रभाव में लाता है। एकाकी का लक्ष्य होना चाहिये कि वह एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करे, एक स्थिति रखे और उसका ध्यान एक पात्र अथवा विशिष्ट पात्र समूह पर केन्द्रित हो।

२—'प्रिवर्ड ईटन' ने अपने ग्रन्थ "चीफ फाल्टर्स इन राइटिंग वन एक्ट्स" मे एकाकी का यह रूप स्वीकार किया है :—

"The one act play, be its nature and the rigid restriction of medium has to confine itself to a single episode or situation and this situation, in turn has to grow and develope out of itself."

अर्थात् एकाकी नाटक की ऐसी प्रकृति होनी चाहिये कि उसमे किसी एक ही घटना अथवा विशेष परिस्थिति का नियोजन ऐसा हो कि वह स्वतः धीरे धीरे बढे और विकसित हो जाय।

विचार करने पर ये परिभाषायें भी अपूर्ण प्रतीत होती हैं। प्राय सभी परिभाषओ का निष्कर्ष इस प्रकार है —

(क) एकाकी मे किसी एक घटना, परिस्थिति, समस्या अथवा पक्ष का चित्रण होना चाहिए ।

(ख) उसमें सक्षिप्तता, कुतूहल, मनोरजन, ऐक्य एवं सजीवता के गुण होने चाहिये।

(ग) एकाकी मे सकलनत्रय के निर्वाह के साथ ही लेखक की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति मे समन्वय होना अनिवार्य है।

(घ) एकाकी मे एक अक के माध्यम से ही, गिनेचुने पात्रो को लेकर सफल चित्रण करना चाहिये।

में द्वन्द्व अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है और लेखक अन्तिम परिणा का सकेत कर देता है। चतुर्थ सोपान 'अन्त' में परिणाम सामने आ जाता है किन्तु समस्या प्रधान नाटको में अपूर्णता ही रहती है। एकाकी की सफलता लिये देश, काल तथा कार्य की एकता (सकलनत्रय) भी आवश्यक प्रतीत होत है। निष्कर्ष यह कि एकाकी की कथावस्तु में एकता, एकाग्रता तथा विस्म या कुतूहल, इन तीन तत्त्वो का होना आवश्यक है।

पात्र तथा चरित्रचित्रण

एकाकी में ५ या ६ पात्रो से अधिक पात्र न होने चाहिये, क्योकि पा की भरमार से कथावस्तु में शिथिलता आ जाती है और मुख्य पात्रो के चरित्रो की रूपरेखायें नही अकित हो पाती। इसमें मुख्यतया नायक पर लेखक का ध्यान केन्द्रित रहता है और उसी का चरित्र कुछ अधिक स्पष्ट में व्यक्त हो पाता है। पात्रो की चारित्रिक रूप रेखा प्रस्तुत करने के लि लेखक को पात्रो के मन, वचन कर्म में सजीवता, स्वाभाविकता एवं मनोवैज्ञा कता का ध्यान रखना होता है। सामान्यतया नायक, प्रतिनायक तथा सामा पात्र, ये तीन प्रकार के पात्र ही इसमे स्थान पा सकते हैं।

सम्वाद

सम्वाद या कथोपकथन ही एकाकी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सम्वाद जितने ही सार्थक, सरस, चुटीले, सक्षिप्त, गम्भीर एवं स्वाभाविक हो एकाकी उतना ही प्रभावपूर्ण होगा। डा० सत्येन्द्र ने लिखा है:—

"कथोपकथन सक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्ययुक्त, चरित्र की चारित्रिकता प्रकट करने वाला होना चाहिये। बहुधा एकाकी कथोपकथनो मे होकर सम गति और शक्ति सचित करता हुआ कथोपकथन द्वारा ही चरम पर पहुँचता अथवा कथोपकथन या सभाषण मे ही वह अपनी परिसमाप्ति पा लेता है।

सम्वाद के द्वारा पात्रो के भाव व्यक्त होते हैं और उनके भावो से चरित्र चलता है और सम्वादो से ही कथावस्तु को गति मिलती है। अतः सम भी शब्द निरर्थक नही होना चाहिये। प्रत्येक पात्र अपनी योग्य आदि के औचित्य के अनुसार ही बोले, किन्तु भाषण न देने लगे।

[illegible] है [illegible] एवं [illegible] । एकांकी का [illegible] में [illegible] का बड़ा [illegible] है । कम से कम समय में अधिक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति करने [illegible] होती है । लेखक को [illegible] भाषा का प्रयोग [illegible], किन्तु [illegible] कि एकांकी अनेक भाषाओं के उदाहरण का [illegible] बन जाए । इन्हीं भाषाओं के द्वारा पात्रों के चरित्र का भी ज्ञान होता है, [illegible] स्वाभाविकता की रक्षा के लिए एकांकी की भाषाशैली दोषमुक्त एवं स्वाभाविक होनी चाहिए । इसी भाषाशैली से लेखक की कलाकुशलता का भी परिचय प्राप्त होता है ।

६. उद्देश्य

एकांकी जीवन के अधिक समीप होता है क्योंकि वह संघर्ष का चित्रण करता है, यथार्थ को मूर्तरूप देता है । लेखक कभी किसी समस्या को चित्रित करने के उद्देश्य से एकांकी लिखता है और कभी अन्य उद्देश्यों से भी । इन उद्देश्यों में समाजसुधार, नवजागरण, राष्ट्रीयता, देशप्रेम, परिवार आदि किसी को लेकर एकांकी की सृष्टि हो सकती है । लेखक अपने इस उद्देश्य को अप्रत्यक्ष रूपकर पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है । उसका मूललक्ष्य आनन्द की सृष्टि करना है ।

७. अभिनेयता

अभिनेयता तो दृश्यकाव्य का अनिवार्य अंग है, इसके अभाव में चाहे नाटक

हो या एकांकी या और कोई रूपक, उसे 'अभिनयात्मक' ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। एकांकीकार एकांकी के प्रारम्भ में ही विस्तृत रंगमञ्चीय संकेत दे देता है। पात्रों की वेशभूषा, दृश्यों की साज-सज्जा, वातावरण, स्थान, समय आदि के संकेत इसीलिये दिये जाते हैं, कि एकांकी के अभिनय करने में सुविधा हो सके। अभिनेयता के लिये एकांकीकार को पात्रों की संख्या ५ या सात से अधिक नहीं रखनी चाहिये, अन्यथा रंगमंच में सभी पात्र सफल नहीं सकते। अभिनेय एकांकी की भाषा सरल होनी चाहिए, संवाद चुस्त, संक्षिप्त एवं प्रभावपूर्ण होने चाहिये। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि एकांकी आधे घण्टे के अन्दर अभिनीत हो सके। एकांकी में ऐसी ही सामग्री का संकेत हो जो सरलता से अध्ययन करने पर भी प्राप्त की जा सके। इन सबके अतिरिक्त अभिनेय एकांकी की कथावस्तु रोचक एवं सरल होनी चाहिए।

एकांकी का वर्गीकरण

विषयवस्तु की दृष्टि से एकांकी के ११ वर्ग हो सकते हैं :— १. सामाजिक एकांकी २. राजनीतिक एकांकी ३. ऐतिहासिक एकांकी ४. प्रगतिशील एकांकी ५. पार्टी एकांकी ६. मानवतावादी एकांकी ७. धार्मिक-पौराणिक-नैतिक एकांकी ८. वैज्ञानिक एकांकी ९. मनोवैज्ञानिक एकांकी १०. रेडियो एकांकी ११. गीति नाट्य एकांकी।

सामाजिक एकांकियों में मानव समाज की समस्याओं एवं सुख-दुःखों का प्रतिबिम्ब रहता है। राजनीतिक एकांकियों में राजनीतिक आन्दोलनों, विचारधाराओं तथा नेतागीरी की पोल-पट्टियों का चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक एकांकी किसी ऐतिहासिक घटना को लेकर लिखे जाते हैं, उनमें कुछ कल्पना का मिश्रण रहता है। प्रगतिशील एकांकियों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रधान रहता है, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह व्यक्त किया जाता है और आर्थिक वैषम्य पर तीक्ष्ण प्रहार दृष्टिगोचर होता है। पार्टी एकांकियों में समाजवादी कम्युनिस्ट, कांग्रेस, हिन्दू महासभा तथा सरकारी प्रचार-साहित्य का अस्तित्व होता है। मानवतावादी एकांकियों में समस्त विश्व के मानव को एक इका- ... उसकी समस्याओं का अंकन रहता है। धार्मिक-पौराणिक-नैतिक

नाटी प्राचीन भारतीय सास्कृतिक ग्रथो पर आधारित रहते हैं । इनमे आदर्श-द की प्रतिष्ठा की जाती है । वैज्ञानिक एकांकियो में विज्ञान को आधार नकर उसके गुणो अथवा दोषो पर प्रकाश डाला जाता है । मनोवैज्ञानिक कांकियों में पात्रो के चरित्र को अधिकाधिक मनोविज्ञान की कसौटी पर सा जाता है । ये एकाकी अधिक गम्भीर होते हैं । रेडियो एकाकी आज की ई विधा है । इन्हे 'ध्वनि एकांकी' भी कह सकते हैं । वस्तुत. इनका अभिनय हीं होता, केवल निर्देशो के माध्यम से कथावस्तु अग्रसर होती है, शेष सभी चेष्टायें ध्वनि तरगो से व्यक्त की जाती हैं । 'गीतिनाट्य' भी एक नवीन धा है, इसमें प्रतीकात्मक पद्धति से कथावस्तु ग्रथित की जाती है, किन्तु सका रूप पद्यात्मक होता है ।

इस प्रकार अभी एकाकी विकास के नित्य नये आयामों की खोज मे है । टेलीविजन के आविष्कार से इस दिशा में भी नूतनता आ रही है । वर्तमान एकांकीकार पाठ्य एकांकियों की भी रचना कर रहे हैं । कुछ लोग कई छोटे-छोटे एकांकियों की एक माला सी बनाकर 'एकांकीमाला' का प्रयोग कर रहे हैं । तात्पर्य यह कि आजकल 'लघुकथा' से भी अधिक लोकप्रियता 'आधुनिक एकांकी' को प्राप्त है । विकास के नूतन स्रोतो को पाकर यह विधा उत्तरोत्तर निखर रही है ।

उपन्यास

आधुनिक युग मे प्राय 'उपन्यास' अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं, क्योंकि इनमें सरल भाषा-शैली के माध्यम से जीवन का यथार्थ-चित्र प्रस्तुत किया जाता है । हिन्दी मे 'उपन्यास' की विधा भी मुख्यतया आंग्ल प्रभाव से आई हुई है । 'उपन्यास' शब्द 'बँगला' से होकर हिन्दी में आया है, जो अंग्रेजी के नॉविल (Novel) का ही रूपान्तर है । इसका शब्दार्थ है – नया या नूतन । 'नॉविल' में काल्पनिक घटनाओं का चित्रण होता था अत इस अर्थ में उसे 'नूतन' या 'नवल' माना गया । प्रारम्भ में इस हेतु 'नॉवल' शब्द का प्रयोग होता था क्योंकि इस विधा में जीवन के यथार्थ का चित्रण किया जाता था । 'इस-

में इस हेतु 'नोविले' शब्द प्रयुक्त होता रहा है। 'नोविले' में कथाएं सन्निहित, यथार्थ प्रधान, किन्तु छन्दोबद्ध होती थीं। अंग्रेजी में इसी का अनुवाद हुआ, इस प्रकार 'इटली' से आया हुआ 'नोविले' शब्द अंग्रेजी में 'नाविल' के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसके पूर्व गद्य कथाओं के लिए अंग्रेजी में 'फिक्शन' (Fiction) शब्द प्रचलित था, जिसका अर्थ 'गल्प' या 'कल्पितकथा' होता है। इसका शब्दार्थ 'रोमांस' (Romance) भी होता है, परन्तु रोमांस और नाविल में अन्तर है। 'रोमन्' शब्द से 'रोमांस' की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ 'असाधारण' होता है। इस प्रकार 'रोमांस' में असाधारण घटनाओं एवं पात्रों का चित्रण होता है, जबकि उपन्यास में जीवन की साधारण सम्भव घटनाओं का चित्रण होता है। इसके अतिरिक्त 'रोमांस' पद्यात्मक होते हैं और 'उपन्यास' या 'नाविल' गद्यात्मक। इस सम्बन्ध में 'क्लारारीव' (Clarareeve) का कथन द्रष्टव्य है—

"उपन्यास अपने युग का चित्रण करता है, रोमांस उदात्त भाषा में उनका वर्णन करता है, जो न घटित है, न घटमान। उपन्यास दैनिक जीवन की घटनाओं का सम्बन्ध बतलाता है, जो हमारे मित्रों तथा हमारे जीवन में सम्भव हो। उपन्यास की सफलता इसमें है कि प्रत्येक दृश्य इस सरलता और स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत हो और उसे इतना सामान्य बनाया जाय कि उनकी वास्तविकता में विश्वास हो जाय।"

परिभाषा

'उपन्यास' की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' के अनुसार—वृहत् आकार गद्य-आख्यान या वृत्तान्त, जिसके अन्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों को कथानक में चित्रित किया जाना 'उपन्यास' है। प्रसिद्ध विद्वान क्रोसे के अनुसार—'नोवेल (उपन्यास) से अभिप्राय उस गद्यमय गल्पकथा से है, जिसमें वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्रण रहता है।' 'वेकर' के अनुसार—"उपन्यास को हम गद्यमय .त आख्यान के माध्यम से की गई जीवन की व्याख्या कहते हैं।" फ्रांसीसी न् 'चेवल' के अनुसार 'उपन्यास निश्चित आकार का गद्यमय आख्यान

है।' 'आर बर्टन' के अनुसार—"उपन्यास गद्य में रचित कवि के समकालीन जीवन का अध्ययन है, जिसकी रचना लेखक समाज के उत्थान-पतन की भावना से अनुप्राणित होकर करता है। इसके लिए वह प्रेमतत्व को प्रधानतया ग्रहण करता है, क्योंकि अपने सामाजिक सम्बन्धों में मानव इसी से परस्पर बँधे हुए हैं।" 'वेबस्टर' के अनुसार—"उपन्यास एक ऐसा कल्पित विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है, जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और उनके क्रियाकलापों का चित्रण रहता है।"

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं में से 'वेबेस्टर' की परिभाषा अधिक पूर्ण, सुव्यवस्थित एवं सरल प्रतीत होती है। वैसे तो 'उपन्यास' की परिपूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करना कठिन है, क्योंकि जब यह जीवन की व्याख्या है, तो जीवन की अनेक रूपता भी इसमें आती है और जीवन की अनेकरूपता को कुछ पंक्तियों में कैसे बाँधा जा सकता है! यह बात दूसरी है कि उसकी कुछ रूपरेखा प्रस्तुत कर दी जाय। यही बात इन परिभाषाओं में भी लागू होती है।

भारतीय विद्वानों ने भी 'उपन्यास' की परिभाषायें दी हैं, कुछ का उल्लेख किया जा रहा है—

१ मुन्शी प्रेमचन्द लिखते हैं—'मैं उपन्यास को मानवचरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानवचरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्य को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।'

२. डा० श्याम सुन्दरदास के अनुसार—'मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा 'उपन्यास' है।'

३ हमारे विचार में उपन्यास की अधिक सगत एवं समन्वित परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—

"उपन्यास वृहत् आकार की वह गद्यविधा है जिसमें मानव जीवन की सुखदुःखात्मक अनुभूतियों को यथार्थ और कल्पना के मिश्रण से कलापूर्ण कथा-त्मक रूप देकर अभिव्यक्त किया जाय।"

उपन्यास का स्वरूप

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से उपन्यास के रूप का यत् किंचित् आभास हो जाता है, अतः उसके स्वरूप के विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है। वस्तुतः उपन्यास जनसाधारण के लिए लिखा जाता है, अतः उसकी भाषा सरल एवं स्पष्ट होनी चाहिए। उसमें जो भी कथावस्तु हो, वह काल्पनिक होती हुई भी जीवन के यथार्थ से ली गई हो और अवान्तरकथाओं के मेल रहने पर भी उस मूलकथा का स्वरूप स्पष्ट हो। उपन्यास को हम गद्यात्मक महाकाव्य भी कह सकते हैं, उसके अन्तर्गत लेखक अपने जिन विचारों को व्यक्त करता है, उनके व्यक्त करने की दो विधियाँ अपनाता है—प्रत्यक्ष विधि, अप्रत्यक्षविधि। प्रत्यक्षविधि में लेखक अवकाश निकालकर स्वयं किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगता है और अप्रत्यक्षविधि में वह पात्रों के मध्य से बोलता है। प्रायः सफल लेखक अपने प्रधान पात्रों के माध्यम से ही बोलते हैं। कला की दृष्टि से यही विधि उत्तम है, क्योंकि उपन्यासकार को साक्षात् उपदेष्टा बनने से बचना चाहिए। उसे मानव जीवन की यथार्थ घटनाओं को लेकर कल्पना का जामा पहनाकर एक नवीनरूप में प्रस्तुत करना पड़ता है, जिसमें स्वाभाविकता एवं सुचारुता के साथ ही तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है। जीवन की विविधता का चित्रण करने में उसे जितनी ही प्रखर अनुभूति होगी,उतनी ही सफलता मिलेगी।

उपन्यास के तत्त्व

(१) कथावस्तु (२) पात्र तथा चरित्र चित्रण (३) कथोपकथन (४) देश-काल-वातावरण (५) भाषा शैली (६) उद्देश्य।

१. कथा वस्तु

'उपन्यास' में कथावस्तु का सर्वाधिक महत्व होता है। यह कथावस्तु ऐतिहासिक हो या काल्पनिक किन्तु लेखक को न्यूनाधिकरूप में अपनी कल्पना का आश्रय लेकर उसे सरसता एवं प्रभावकारिता प्रदान करना होती है। इसके अतिरिक्त लेखक कथावस्तु का निर्माण करने के लिए समाचार पत्रों, [illegible] लेखों एवं विभिन्न विषय की पुस्तकों का भी आश्रय लेता है। इस

का इसकी कथावस्तु जीवन से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की हो सकती है। है वह राजनैतिक हो या धार्मिक, सामाजिक हो या सांस्कृतिक, ऐतिहासिक या पौराणिक, रोमान्टिक हो या जासूसी।

उसमें कथावस्तु में संघटन, अनुपात, घटनाओं का सहज विकास, रोचकता, स्वाभाविकता, मौलिकता तथा सत्यता के गुण विद्यमान रहते हैं। किसी उपन्यास की कथावस्तु में मानवजीवन की परिस्थितियों एवं उनकी समस्याओं का ऐसा सजीव चित्रण होना चाहिए, जो बिल्कुल सत्य हो और यथार्थ होते हुए भी रोचक हो। उपन्यास की कथावस्तु जीवनमूल्यों का विश्लेषण करती है, चरित्रों के माध्यम से समाज के आदर्शों की व्याख्या करती है। जीवन के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित करती है। इसकी कथावस्तु में जो भी अवान्तर कथायें हों उन्हें मूलकथावस्तु की पोषिका बनकर ही रहना चाहिए। इसी प्रकार उपन्यास की घटनायें भी सीमितरूप में प्रस्तुत की जानी चाहिए, क्योंकि अधिक विस्तार से उसकी रोचकता के नष्ट होने का भय रहता है। इसके अतिरिक्त सभी घटनाओं में एक शृंखला होनी चाहिए, जिससे वे समन्वित रूप में एक प्रतीत होती हों।

सामान्यतया उपन्यास का कथानक 'प्रत्यक्ष प्रणाली या आत्मकथा प्रणाली अथवा पत्र प्रणाली' के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रणालियाँ भी हो सकती हैं।

२. पात्र तथा चरित्र-चित्रण

उपन्यासकार पात्रों के माध्यम से ही कथावस्तु को विकसित करता है। इसमें एकांकी की भाँति संकुचित क्षेत्र नहीं होता, पर्याप्त संख्या में १५ या २० पात्र भी सरलतापूर्वक स्थान पा जाते हैं। पात्रों का चयन समाज के सभी वर्गों से किया जा सकता है। लेखक को चाहिए कि वह पात्रों का स्वाभाविक विकास होने दे, उन्हें अपने हाथों की कठपुतली न बनाये। पात्रों की सहायता से ही लेखक जीवन की बहुमुखी व्याख्या करता है, अतः उसे विभिन्न प्रकृति और प्रवृत्ति के पात्रों को प्रस्तुत करना होता है। पात्रों में गुण भी होते हैं, अवगुण भी। दोनों का उद्घाटन करना कलाकार का कर्तव्य है। पात्रों का

क्रियाकलाप उनके चरित्र पर प्रकाश डालता है, अतः उनके क्रियाकलापों
सजीवता, यथार्थता एवं आकर्षण होना चाहिए। चरित्रचित्रण की कुशल
इसी बात में है कि उपन्यास का पाठक विभिन्न पात्रों को सरलता से पहच
सके और उनसे तादात्म्य स्थापित कर सके। एक आलोचक ने लिखा है—

"मनुष्य प्रकृति के विभिन्न पक्षों और स्तरों के सूक्ष्म अध्ययन और कम
कम शब्दों में चित्र को पूरा-पूरा उपस्थित कर सकने की योग्यता ही सफ
चरित्रचित्रण की कसौटी है।" चरित्र चित्रण की सफलता के लिए पात्रों
कथानक के अनुकूल ही प्रस्तुत करना चाहिए और उनमें मौलिकता, सजीव
एवं स्वाभाविकता की सृष्टि करनी चाहिये। इस हेतु कलाकार को मानवजा
की मनोदशाओं, प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का विस्तृत ज्ञान होना चाहिए।

चरित्रों के प्रकार

चरित्रचित्रण की विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हैं, किन्तु मुख्यरूप से वर्ण
नात्मक प्रणाली और अभिनयात्मक-प्रणाली, ये दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लेख
को यथासम्भव दोनों से समुचित लाभ उठाना चाहिए। सामान्यतया चरि
४ प्रकार के होते हैं—(१) वर्गप्रधान चरित्र (२) व्यक्तिप्रधान चरित्र (
आदर्श चरित्र (४) यथार्थ चरित्र। वर्गप्रधान चरित्रों में जातीय विशेषता
की प्रधानता होती है, व्यक्तिप्रधान चरित्रों में स्वतन्त्र रूप से व्यक्तिगत वि
पतायें अंकित की जाती हैं। आदर्श चरित्र में किसी पात्र विशेष के जीवन
आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की जाती है और यथार्थवादी चरित्रों
पात्र विशेष के माध्यम से जीवन की यथार्थता का अंकन किया जाता है
इसमें पात्र देव, असुर अथवा मानव, किसी भी कोटि के हो सकते हैं।

३. कथोपकथन

उपन्यास के कथोपकथन नाटकादि की तुलना में विस्तृत होते हैं, किन
लेखक को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कथोपकथन सगत, सजी
एवं स्वाभाविक हो। अधिक लम्बे कथोपकथन नीरस लगने लगते हैं। उनक
सार्थकता इस बात में है कि वे पात्रों के व्यक्तित्व का प्रकाश करते हों औ
क्रम को भी गति देते हों। कथोपकथन से उपन्यास में नाटकीयता अ

और व्यंग्य का पुट भाषाशैली को अधिक ग्राह्य बना देता है, अतः लेखक को इनका भी यथोचित प्रविधान करना चाहिए। लेखक की उत्तमशैली पाठक को अनुरक्त रखती है। उसमें यथा स्थान ओज एवं माधुर्य को भी स्थान देना चाहिए और 'प्रसाद' को तो सर्वाधिक स्थान देने की आवश्यकता होती है। शैली की सजीवता के लिए उसमें पात्रानुकूलता का भी ध्यान रखना पड़ता है। पात्रानुकूल भाषाशैली से उपन्यास में प्रवाह एवं प्रांजलता जैसे गुण आ जाते हैं। शैली जहाँ एक ओर लेखक के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है, वहाँ दूसरी ओर पाठक को भी विमुग्ध रखती है। उपन्यास लेखन में प्रायः निम्नलिखित शैलियाँ प्रचलित हैं—

(१) वर्णनात्मक शैली (२) आत्मकथात्मक शैली (३) पत्रात्मक शैली (४) डायरी शैली।

वर्णनात्मक शैली में लेखक पात्रों एवं घटनाओं का वर्णन करता चलता है। बीच-बीच में अपनी बात भी कह देता है। यह शैली सर्वाधिक प्रचलित है। वस्तु वर्णन एवं प्रकृति वर्णन की सुविधा इस शैली में सर्वाधिक रहती है। आत्मकथा शैली में एक पात्र ही स्वयं सारी कहानी आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत करता है। पत्रात्मक शैली में पत्रों के माध्यम से कथावस्तु विकसित की जाती है और 'डायरी शैली' में 'डायरी' के माध्यम से कथावस्तु का विकास किया जाता है। इसी प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से शैली के अनेक भेद किये जा सकते हैं।

६ उद्देश्य

यदि साहित्य को शुद्ध 'कला' की दृष्टि से देखें तो 'उपन्यास' का भी उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है किन्तु यदि साहित्य को जीवन की दृष्टि से देखें जैसा कि अधिक समय प्रतीत होता है तो उपन्यास का [illegible]

> [illegible] की अभिव्यक्ति है। उपन्यासकार को जीवन की [illegible] करना के [illegible] भी [illegible] चाहिए [illegible] [illegible] और [illegible] का [illegible] [illegible] होनी चाहिए। [illegible]

...त्र और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का लक्ष्य माना
गे रूप होता हुआ भी कुछ संशोधन की माँग करता है । यदि इसी बात
हुए इस प्रकार कहे कि—'मानवचरित्र पर प्रकाश डालना और उसके
यों को खोलते हुए आनन्द की सृष्टि करना 'उपन्यास' का लक्ष्य है, तो
क संगत होगा । उपन्यास चाहे सुखान्त हो या दुःखान्त, दोनों से आनन्द
अनुभूति होती है और इसी अनुभूति की सिद्धि कर सकने पर लेखक का
सफल हो जाता है । शाश्वत जीवन मूल्यों और प्रश्नों की व्याख्या करने
कलाकार की ही कृति अमर होती है । इस प्रकार इन्हीं की साधना
ना उपन्यासकार का लक्ष्य होता है ।

कहानी (आख्यायिका)

आधुनिक समय में 'कहानी' एक विशेष लोकप्रिय गद्यविधा के रूप में
हुई है । इसने लोकप्रियता में 'उपन्यास' को भी पीछे छोड़ दिया है ।
पि भारतीय-साहित्य में वैदिककाल से ही कहानियों का प्रचलन रहा है,
तु हिन्दी के क्षेत्र में आज 'कहानी' का जो रूप प्रचलित है, वह पाश्चात्य
व से ओतप्रोत है । कहानी ही 'आख्यायिका', गल्प, कथा आदि नामों से
जी जाती है । यद्यपि दंडी आदि प्राचीन आचार्यों ने 'कथा' और 'आख्या-
का' में काल्पनिकता और ऐतिहासिकता को लेकर अन्तर माना है, किन्तु
न्त उन्होंने ही इस अन्तर को समाप्त कर दिया है । इस प्रकार 'कहानी'
र 'आख्यायिका' में ऐक्य स्थापित हो गया है ।

रिभाषा

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने 'कहानी' की अनेक परिभाषायें प्रस्तुत
ः है—

१. एलरी का मत है—छोटी कहानी ठीक घुड़दौड़ के समान होती है,
रम्भ और अन्त ही उसमें महत्वपूर्ण होते हैं—

A Short Story is just like a horse-race. It is the Start
nd finish which Count most

वेल्स के अनुसार—घटित-तत्त्व (फिक्शन) का कोई भाग, जो बीस

मिनट में पढ़ा जा सके, लघुकथा होगी ।

"Any Piece of Short Fiction which can be read in t
minutes would be a short Story."

३. 'एडगर एलन पो' के अनुसार—'लघुकथा' एक सक्षिप्त वर्णन है
इतनी लघु होती है कि एक ही बैठक में पढ़ी जा सकती है। यह पाठ
एक प्रभाव डालने के उद्देश्य से लिखी जाती है। इसमें उन सब बातों का
त्कार होता है, जो उस प्रभाव को अग्रसर न कर सकती हो। यह अपने
में स्वतः पूर्ण होती है—

A Short Story is a narrative Short enough to be rea
a Single Sitting written to make an impression on
reader excluding all that does not forward that impres
complete and final itself."

४. हैडफील्ड के अनुसार—'कहानी की सबसे बडी विशेषता उसकी स
प्तता है।'

The short story, a story that is not long.

५. 'एनसाइक्लोपीडिया आफ ब्रिटानिका'—(वर्तानियाँ का विश्वकोश
कहानी की परिभाषा का यह रूप दिया गया है—'अन्त में इसको एक अ
साहित्यिक-विधा के रूप में वर्णित करते हुए कोई इससे अधिक और
कहेगा कि यह सक्षिप्त होती है, अत्यन्त सगठित होती है और एक कथा
पूर्णरूप होती है—

"Ultimately in describing it as a distinct literary fo
one can hardly do better than to say that it is short, high
organized complete form of picture."

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर ही भारतीय चिन्तको ने कहानी
परिभाषायें प्रस्तुत की है। यथा—

१. मुन्शी प्रेमचन्द के अनुसार—"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिस
जीवन के किसी एक अग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेख

"हमारे विचार से—कहानी एक बैठक में पढ़ी जाने वाली वह गद्य रचना है जिसमें जीवन के किसी रोचक प्रभावपूर्ण अंश, मनोभाव अथवा [illegible] सत्य का कलात्मक रूप प्रस्तुत करने के लिए एकत्व, संक्षिप्तता, प्रभावान्विति और मनोवैज्ञानिकता के गुणों का आश्रय लेकर लेखक कलात्मक अभिव्यक्ति करता है।"

इस प्रकार कहानी की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कहानी का आकार लघु होता है, वह जीवन के किसी एक अंश की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करती है। उसमें कल्पना, नाटकीयता, सरलता, स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता, स्पष्टता और प्रभावकारिता के गुण विद्यमान होते हैं। वह अपने में स्वतः पूर्ण, संगठित एवं व्यवस्थित रचना होती है। मुंशी प्रेमचन्द ने लिखा है—"वह एक ऐसा गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

कहानी के तत्त्व

(१) कथावस्तु (२) पात्र तथा चरित्र चित्रण (३) कथोपकथन (४) वातावरण (५) भाषाशैली (६) उद्देश्य।

१ कथावस्तु

कहानी की कथावस्तु संक्षिप्त एवं

प्रत्यक्ष प्रणाली—इसे विश्लेषणात्मक-प्रणाली भी कहते हैं। इसमें लेखक किसी पात्र के कार्यों का वर्णन करता है और उनसे पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। यह प्रणाली स्थूल मानी जाती है।

परोक्ष प्रणाली—इसे सांकेतिक प्रणाली या 'नाटकीय प्रणाली' भी कहते हैं। इसमें पात्र स्वयं अपने चरित्र का विश्लेषण करता है और कभी-कभी अन्य पात्रों द्वारा भी किसी पात्र के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। चमत्कार की दृष्टि से यह 'नाटकीय प्रणाली' अधिक श्रेष्ठ मानी जाती है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इसी की पुष्टि की है—"कहानी की सर्वाधिक प्रभावशाली और व्यवहारोपयोगी चरित्रांकन पद्धति वह होती है, जिसमें नाटकीय विधि का उपयोग हो।"

कथोपकथन

कथोपकथन के द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु कहानी के कथोपकथन अति सूक्ष्म, आवश्यक एवं साभिप्राय होने चाहिएँ। इनमें एक भी वाक्य व्यर्थ का न हो। पात्रानुकूलता, स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के गुणों से कथोपकथन में सजीवता आती है। ये कथोपकथन कथावस्तु को गति प्रदान करते हैं, अतः इनकी रोचकता पर ध्यान देना आवश्यक है। इनसे वातावरण के निर्माण में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार कहानी के कथोपकथनों में संक्षिप्तता, कुतूहल, सांकेतिकता, चमत्कारिता, पटुता, अनुकूलता आदि गुणों का होना आवश्यक है। पात्रों के कथोपकथनों में 'चरित्र चित्रण' के भी अंग समाहित रहते हैं। जो पात्र कोई बात करता है, अपने विचार प्रकट करता है, उससे उसके आन्तरिक भावों का अनुमान लगाना सरल होता है। यदि वह किसी दूसरे पात्र के बारे में कहता है, तो उस अन्य पात्र के भी चरित्र पर प्रकाश पड़ जाता है। इस प्रकार कहानी में कथोपकथन भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है।

वातावरण

कहानी की स्वाभाविकता के लिए ही उचित वातावरण की सृष्टि की जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने कहानी के वातावरण के स्थानीय चित्रण को

अधिक महत्ता प्रदान की है। इससे भावों के जाग्र
है। कहानी में 'वातावरण' तीन कार्य करता है—१
नुभूति की तृप्ति कराना ३. सहानुभूति की उत्पत्ति
मानसिक तथा भौतिक दोनों प्रकार का होता है। मान
पात्र की मानसिक परिस्थिति का सजीवचित्रण किया
वातावरण में स्थान तथा प्रकृति का प्रभावोत्पादक चित्र
निक कहानियों में प्रथम प्रकार और शेष कहानियों मे
उत्तम माना जाता है।

५. भाषाशैली

कहानी की भाषा सरल, चुटीली एवं सशक्त होनी च
क्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से प्रभावकारिता आती ह
व्यावहारिकता कहानी की भाषाशैली के अनिवार्य गुण हैं।
में तार्किकता एवं चमत्कारिता का होना भी आवश्यक है।
चित्रात्मकता, प्रवाहशीलता, सजीवता, कलात्मकता, प्रभाव
कता कहानी की भाषाशैली के गुण माने जाते हैं। वैसे तो
प्रचलित हैं, किन्तु मुख्य प्रचलित शैलियाँ इस प्रकार हैं—

(१) आत्मकथात्मक शैली (२) कथात्मक शैली (३) सम्वादा
पत्रात्मक शैली (५) डायरी शैली।

प्रथम में लेखक 'आत्मकथा' की भाँति सारी कहानी 'आ
में कहता है। द्वितीय में लेखक केवल वर्णनकर्ता के रूप में घटनाअ
करता है। तृतीय में नाटक की भाँति पात्रगत सम्वादों के आधा
बल दिया जाता है। चतुर्थ में एक या अनेक पात्रों की सहायता
का निर्माण किया जाता है और पंचम में किसी व्यक्ति की
आधार बनाकर कथावस्तु निर्मित की जाती है। इनमें
. प्रचलित है।

६. उद्देश्य

(१) उपन्यास जीवन की सर्वांगीण व्याख्या है, किन्तु कहानी जीवन के किसी एक मार्मिक अंश की व्याख्या है। (२) कहानी की कथावस्तु सूक्ष्म एव संक्षिप्त होती है उसमें एक ही घटना का प्रभावपूर्ण चित्रण किया जाता है, किन्तु उपन्यास की कथावस्तु विस्तृत होती है उसमें अनेक अवान्तर कथायें भी रहती हैं और घटनावैविध्य के कारण अनेकरूपता भी रहती है। (३) उपन्यास में पर्याप्त पात्रों की गुंजाइश रहती है, किन्तु कहानी में कुछ ही गिनेचुने आवश्यक पात्र होते है। (४) उपन्यास में पात्रों के चरित्रचित्रण का पूर्ण अवकाश रहता है, पर कहानी में चरित्रचित्रण अधूरे होते हैं, वहाँ बहुत कम अवकाश रहता है, केवल चरित्रचित्रण की हल्की रूपरेखा ही अंकित हो पाती है। (५) उपन्यास के सम्वाद लम्बे-लम्बे हो सकते है, यहाँ तक कि उनमें साधारण लेक्चर तक आ जाते हैं, किन्तु कहानी के सम्वाद लघु एव सूक्ष्म होते हैं, उनमें वक्तृता के लिए स्थान नही होता। वे उपन्यास के सम्वादों की अपेक्षा

अधिक चुस्त एवं नाटकीय होते हैं। (६) उपन्यास की भापाशैली में वैविध्य हो सकता है, पर कहानी की भापाशैली में एकरूपता रहती है। उपन्यास की शैली की तुलना मे कहानी की शैली अधिक प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावशील होती है।(७)उपन्यास मे देश काल तथा वातावरण का चित्रण करने के लिए पर्याप्त स्थान रहता है, किन्तु कहानी में इसके लिए बहुत कम स्थान रहता है, फलत. इस अश में उपन्यास अधिक गौरवशील प्रतीत होता है। (८) उपन्यास का उद्देश्य जीवन की विविधता के साथ आनन्दात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति करना होता है, किन्तु कहानी का उद्देश्य जीवन के आशिक रूप का ही उद्घाटन करना होता है।

'हडसन' ने कहानी और उपन्यास के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"कहानी मे हम पात्रों से केवल कुछ क्षण के लिए ही मिलते हैं। उन्हें कुछ ही सम्बन्धो और परिस्थितियो में देखते हैं, किन्तु उपन्यास इससे भिन्न है। इसमे पात्रो के सम्पूर्ण जीवन की झाँकी मिलती है।" इसके अतिरिक्त उपन्यास में कल्पना के लिए पर्याप्त स्थान होता है, किन्तु कहानी मे सीमित होता है। उपन्यास मे अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट भी रहता है और साकेतिक भी, किन्तु कहानी मे यह साकेकित ही रहता है।

इस प्रकार वाह्यतत्त्वो की एकता होने पर भी उपन्यास और कहानी में पर्याप्त अन्तर है। मूलरूप मे उपन्यास घटनाप्रधान होते हैं, पर कहानी व्यंजनाप्रधान होती है। वस्तुत. दोनों स्वतन्त्र विधायें हैं, कहानी को 'कटा-छटा उपन्यास' कभी नही कहा जा सकता।

कहानियों के प्रकार

सम्प्रति विभिन्न प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं, जिनका वर्गीकरण करना आसान कार्य नही है। सामान्यतया कहानियाँ चार प्रकार की होती हैं— (१) कथाप्रधान (२) वातावरणप्रधान (३) प्रभावप्रधान (४) विविध (ऐति-[illegible], सास्कृतिक, राजनीतिक, हास्यात्मक आदि) 'कथाप्रधान' कहानी मे [illegible] की कथावस्तु ही मुख्यतया वर्णनात्मक शैली मे प्रस्तुत की जाती है। [illegible] कहानी' में किसी स्थान, प्रकृति और वातावरण का ऐसा

[illegible]यादक चित्रण किया जाता है कि जिसकी तुलना में अन्य तत्त्व गौण [illegible]ते हैं। 'प्रभावप्रधान कहानी' में किसी ऐसे प्रभावविशेष का चित्रण किया है, जिसमे उसी की मुख्यता होती है और अन्तिम वर्ग मे अनेकरूपतापूर्ण [illegible] आती हैं।

[illegible]तत्त्व की दृष्टि से कहानियाँ सात प्रकार की होती है—(१) वर्णनप्रधान [illegible]टनाप्रधान (३) चरित्रप्रधान (४) वातावरणप्रधान (५) प्रभावप्रधान [illegible]वप्रधान (७) समस्याप्रधान।

[illegible]र्णन प्रधान कहानियाँ—इनमे लेखक किसी स्थान समय या पात्र का [illegible]रना ही अपना लक्ष्य मानता है।

[illegible] घटनाप्रधान कहानियाँ—इनमे लेखक का लक्ष्य किसी घटनाविशेष [illegible]ात्मक चित्रण करना रहता है और वह मुख्यघटना से सम्बद्ध अनेक लघु [illegible] भी प्रस्तुत कर देता है। इनमे चरित्रचित्रण आदि तत्त्व गौण [illegible]।

[illegible] चरित्रप्रधान कहानियाँ—इनमे लेखक की दृष्टि पात्रो के यथार्थ चरित्र पर केन्द्रित रहती है। लेखक आन्तरिक एव बाह्य दोनो प्रकारो से [illegible] व्यक्तित्व का अकन करता है, इनमे घटनाओ का अधिक महत्त्व नही [illegible] यथा—'बूढ़ीकाकी' (प्रेमचन्द)।

[illegible] वातावरणप्रधान कहानियाँ—इनमे किसी प्रसग को लेकर वातावरण [illegible]व एवं यथार्थ चित्रण करना कलाकार का लक्ष्य होता है। ऐसा करने [illegible] परिस्थिति चित्रण मे सहायता मिलती है। यथा—'शतरज के खिलाड़ी' [illegible]प्रेमचन्द)।

प्रभावप्रधान कहानी—इनमे घटनादि को महत्त्व न देकर किसी प्रभाव [illegible]त्व दिया जाता है। यथा—'रवि' (मोहनलाल महतो)।

भावप्रधान कहानी—इनमे स्वाभाविक ढग से किसी मनोभाव का चित्रण किया जाता है। 'अन्तर्द्वन्द्व' ऐसी कहानियो का बीज होता है [illegible]टनाओ का बहुत कम महत्त्व होता है।

समस्याप्रधान कहानी—इनमे लेखक किसी सामाजिक धार्मिक, राजि-

वारिक आदि समस्या को प्रधानता देता है, फलतः लेखक का चिन्तनपक्ष मुखर हो पाता है, समस्या का समाधान दे या न दे, यह लेखक की इच्छा पर निर्भर रहता है।

इनके अतिरिक्त प्रतीकप्रधान, हास्यव्यंग्यप्रधान आदि अनेक प्रकार प्रचलित हैं, कुछ का रूप प्रकाशोन्मुख है और कुछ का प्रकाश में आ चुका है। इस प्रकार कहानी की अनेकरूपता भविष्य के लिए शुभलक्षण है।

रचनाशैली की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से, आधार की दृष्टि मे कहानी के अनेक भेद-प्रभेद किये गए हैं। १९५० ई० से हिन्दी मे 'नईकहानी' का प्रचलन हो गया है, जो पूर्वकहानी से भिन्न मानी जाती है। यथा—"पुरानी कहानी मे व्यक्ति शारीरिक रूप से आता था और वैचारिक रूप से कथाकार। 'नईकहानी' मे यह विचार उस शरीर में अवस्थित बुद्धि से उपजता है, जिसे प्रस्तुत किया जाता है।·· ··तव विचारो को हाड़-मास प्रदान किया जाता था, अव हाड-मास के इन्सान के विचारो को प्रस्तुत किया जाता है।"

—'कमलेश्वर'

आज 'विसगतिवोध' और 'सिद्धान्तवाद' के आग्रह से पूर्ण कहानियाँ निर्मित हो रही हैं। ये वर्तमान की विकृति का चित्रण करती हैं। समाज, परिवार और मुक्तजीवन की सम्वेदना से दूर 'नईकहानी' का यह प्रचलन स्वस्थपरम्परा नही है। इस दोप के त्यागने से ही 'नईकहानी' समृद्ध हो सकेगी।

निबन्ध और उसके प्रकार

'निबन्ध' गद्यसाहित्य की सर्वोत्कृष्ट विधा है। यदि गद्य कवियो की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। 'निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ बाँधना या रोकना अथवा सग्रह् करना है। गद्य की अन्य विधाओं की भाँति निबन्ध भी पाश्चात्य-साहित्य की देन है।

अंग्रेजी मे निबन्ध का पर्याय 'एसे' (Essay) शब्द माना जाता है। यह ःन' भाषा के 'एग्जीजियर' (निश्चय परीक्षण करना) शब्द से निर्मित फ्रेंच 'ऐसाई' शब्द का पर्याय है। इसका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग अथवा

सागर भरने की शक्ति (समाहारशक्ति) का संकेत मिलता है।'

'अलेग्जेंडरस्मिथ' का मत है कि "निबन्ध प्रगतिकाव्य से इस बात मे सा रखता है कि प्रगति की भाँति यह भी किसी व्यक्तिगत अनुभूति, मानसिक पर्ि स्थिति विशेष से, वह सनकपूर्ण हो या गम्भीर या व्यग्यात्मक, सम्बन्धित रह हैं। निबन्ध मानसिक स्थिति को केन्द्रित करके ऐसे लिखा जाता हैं जैसे सिल के कीडे के चारो ओर कोकून घिर जाता है।"

"The essay as a literary form resembles the lyric in for as is meulded by some central mood, whimsical, serio or satirical. Give the mood and the essay from the first sen tence to the last grows around. It as the cocoon around th silk—warm."

'हालवर्ड' और 'हिल' ने निबन्ध के स्वरूप का अच्छा विश्लेषण किया है यथा—

"साहित्यिक निबन्ध किसी विषय का कोई सक्षिप्त रूप ही नही होत अपितु उसे हम लेखक के मस्तिष्क से उत्पन्न वस्तुविशेष के प्रति उद्भूत प्रति क्रियात्मक चित्र की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इसकी सबसे प्रमुखविशेषत वैयक्तिकता अथवा अहभाव का प्रकाशन है।"

"The essay Proper or the literary essay is not merely short analysis of a subject, nor a mere epitone, but rather picture of wandering minds affected f.r the moment by th subject with which he is dealing. Its most distinctive featur is the egostical element."

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "आधुनिक लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मत लब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृखला रखी ही न जाय, या जानबूझकर जगह-जगह मे तोड दी जाय।"

आचार्य रामदहिन मिश्र के अनुसार—"किसी विषय विशेष पर सविस्तार ...ले लेख का नाम प्रबन्ध या निबन्ध है। प्रबन्ध में विवेचन सयुक्तिक, ...म्बित और प्रभावपूर्ण हो, जिससे लेखक के उद्देश्य की सिद्धि सहज हो ...। भाषा विशेषणयुक्त हो—प्रभावोत्पादक, भावोद्बोधक, स्पष्ट और ...।"

आचार्य श्यामसुन्दरदास के अनुसार—"निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए, ...किसी विषय पर गहन और पांडित्यपूर्ण विवाद किया गया हो।

...बन्ध की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं व्याख्याओं के पश्चात् हम इसकी ...परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—"निबन्ध गद्य की वह लघु ...है, जिसमें भाषा के साथ विचारों तथा भावों का सुव्यवस्थित चित्रण ...

...की विशेषतायें

...न्ध की परिभाषाओं के आलोचन करने से उसकी विशेषतायें इस प्रकार ...ती हैं—निबन्ध में निबन्धकार आत्मीयता, अनात्मीयता, वैयक्तिकता ...वैयक्तिकता के साथ किसी एक विषय या उसके किन्हीं अंगों अथवा ...र अपनी निजी भाषाशैली में भाव या विचार प्रकट करता है। स्व... ...सरलता और आडम्बरहीनता के साथ ही घनिष्ठता और आत्मीयता ...लेखक अपने वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण को भी व्यक्त करता है। ...र की स्वच्छन्दता का उच्छृंखलता नहीं है, उसकी अनियमितता में ...नियम और अव्यवस्था में भी एक व्यवस्था होती है। विषय की ...बन्ध की कोई सीमा नहीं होती। शून्य से लेकर अनन्त तक उसका ...है। यथा—

...arently there is no subject from the stars to the heep ...ta) not be dealt with in essay. (अर्थात तारों से लेकर अनन्त ...ऐसा विषय नहीं है, जो निबन्ध का विषय न हो सके।

...के तत्त्व

...मर्यादित विचार परम्परा (२) निबन्धकार का व्यक्तित्व (३) नवीन

विचारों की सुस्पष्टता (८) मौलिकता (९) गम्भीरता (१०) भावाभिव्यक्ति
इनको इस प्रकार समझ सकते हैं :

(क) आकार की दृष्टि से निबन्ध लघु रचना है, जिसे अवकाश के क्षण
में सरलता से पढ़ और समझ सकते हैं।

(ख) निबन्ध में सिद्धान्त प्रतिपादित न करके विचारों का क्रमबद्ध
प्रस्तुत किया जाता है।

(ग) निबन्ध में एकसूत्रता के साथ किसी एक भाव या विचार का
विवेचन होना चाहिए।

(घ) आन्तरिक सूत्रता या सामञ्जस्य किसी भी निबन्ध में अनिवार्य है।

(ङ) निबन्ध में निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप होती है, उसका व्यक्तिगत
दृष्टिकोण ही एकसूत्रता का आधार होता है।

(च) निबन्ध में निबन्धकार की शैली वैशिष्ट्यपूर्ण, रोचक, सुन्दर एवं विष
यानुरूप होनी चाहिए।

(छ) निबन्ध में लेखक की बुद्धि और हृदय का सामञ्जस्य अपेक्षित
होता है।

मुख्यतया निबन्ध के ३ तत्त्व माने जाते हैं— १ विषय २. भाव ३ शैली।

विषय

निबन्ध का विषय कुछ भी हो सकता है, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म; किन्तु लेखक को उस विषय का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त लेखक की बुद्धि उसकी व्याख्या करने में सक्षम होनी चाहिए। जब तक लेखक उस विषय में रुचि न लेगा और स्वतः अपने विचारों में स्पष्ट न होगा, तब तक निबन्ध सफल नहीं हो सकता।

भाव

मानव अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर अनेक भावों एवं विचारों का चयन करता है, उन्हीं को वह अपनी कृतियों में अभिव्यक्त करता है। निबन्ध लेखक के लिए ज्ञान, अनुभव, अध्ययन एवं मनन का उच्चस्तरीय कलाकार होना आवश्यक है, तभी वह अपने भावों एवं विचारों से पाठक को मुग्ध

...प्रकार इन्हीं शैली के मिलते हैं।

...ली—विस्तृत बात को सूत्र रूप में प्रस्तुत करने की पद्धति का
...ती है। इसे 'सूत्रात्मकशैली' भी कहते हैं। इस शैली के निबन्धों
...कर अर्थगाम्भीर्य से पूर्ण होते हैं उनकी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित
...हरणार्थ—"बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" (चिन्तामणि
...न्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध इस शैली के उत्कृष्ट
।

...ली—इसका मुख्य प्रयोग 'भावात्मक (निबन्धों' में होता है। इसमें
...भाव धारा की भाँति अनवरतगति से अग्रसर होते रहते हैं। यह
...र एवं कोमल विषयों के लिए उपयुक्त होती है। इस प्रकार इस
...भिव्यक्ति में भी सरलता होती है और बौद्धिकतत्त्वों की न्यूनता

...ली—जिस प्रकार सरिता में छोटी-बड़ी तरंगें आती हैं, उसी प्रकार
...भी लेखक के विचारों का उतार-चढ़ाव दृष्टिगोचर होता है। यह
...नात्मक निबन्धों में अधिक उपयुक्त होती है।
...शैली—इसमें लेखक इतना भावुक हो जाता है कि वह उन्मत्त की
...प सा करने लगता है। ऐसे भावात्मक-निबन्धों में बुद्धितत्त्व की

अतिशय कमी रहती है। विचारो में भी सगति नहीं रहती और भाषा
अपने व्यवस्थित रूप को खो देती है। यह शैली उपन्यासो के लिए अधि
उपयुक्त मानी जाती है।

निबन्धों के प्रकार

निबन्धो की विषय सीमा अनन्त है। लेखक कभी किसी वस्तु पर, क
किसी व्यक्ति पर, कभी किसी भाव पर और कभी किसी उपकरण पर निब
लिखता है। इस प्रकार निबन्ध के लक्षण के आधार पर उसके भेद कल्पि
होते हैं।

सामान्यतया आधार भेद से निबन्ध दो प्रकार के होते हैं—१.विषयप्रधा
२ विषयीप्रधान ।

विषय प्रधान निबन्ध

इसमे निबन्ध लेखक का व्यक्तित्व गौण होता है और वर्ण्यविषय की प्रध
नता रहती है। अंग्रेजी में 'बेकन' के निबन्ध और हिन्दी में 'आचार्य रामच
शुक्ल' के निबन्ध इसी कोटि मे आते है।

विषयी प्रधान निबन्ध

इन्हे 'आत्मप्रधान' या 'व्यक्तित्वप्रधान' निबन्ध भी कहते हैं। इनमे लेख
का व्यक्तित्व सर्वत्र मुखर रहता है, उसकी प्रधानता के कारण वर्ण्यविषय गौ
हो जाता है। इस प्रकार के निबन्धो मे सरसता, सरलता एव कोमलता अधि
होती है। यही कारण है कि पाठक इनसे शीघ्र प्रभावित होता है। इनमे तर्क
वितर्कों की कमी होती है और मनोभावों की तरगें प्रमुख रहती हैं। यथा-
बालकृष्ण भट्ट का 'चन्द्रोदय' निबन्ध।

अभिव्यक्ति के आधार पर निबन्धो के चार भेद किये जाते हैं—

(क) वर्णनात्मक निबन्ध (Narrative Essay)
(ख) विवरणात्मक निबन्ध (Descriptive Essay)
(ग) विचारात्मक निबन्ध (Reflective Essay)
(घ) भावात्मक निबन्ध (Emotional Essay)

लना पडता है। निबन्धकार इन निबन्धों में तटस्थ रहकर विचार करता और एक न्यायाधीश की भाँति साधक-बाधक प्रमाणों को देता हुआ अपना म स्थापित करता है।

विचारात्मक निबन्धों के भेद

१ आलोचनात्मक २ गवेषणात्मक ३ विवेचनात्मक।

आलोचनात्मक निबन्धो मे किसी कवि, लेखक या कृति अथवा सिद्धा की आलोचना की जाती है। ये दो प्रकार के होते हैं—१ सैद्धान्तिक निब व्यावहारिक निबन्ध।

जिन निबन्धो मे लेखक किसी साहित्यिक सिद्धात पर अपने विचार व्य करता है और उस विषय पर प्रस्तुत किये गए अन्य आचार्यों के विचारो क खंडन-मंडन करता हुआ स्वमत निर्धारित करता है, वे निबन्ध 'सैद्धान्ति निबन्ध' कहलाते हैं। यथा–'वक्रोक्ति और अभिव्यजनावाद'—रामचन्द्र शुक्ल।

जिन निबन्धो में लेखक किसी कवि या लेखक पर या किसी कृति विशे पर अपनी आलोचना प्रस्तुत करता है, उसे 'व्यावहारिक निबन्ध' की संज्ञा द जाती है। यथा–कबीर, सूर तथा तुलसी पर लिखी गई शुक्ल जी की आलो चनायें।

गवेषणात्मक निबन्धो मे तर्क की प्रधानता होती है। लेखक एक अन्वेष की भाँति एक-एक तथ्य की खोज मे व्यस्त प्रतीत होता है। इन निबन्ध गहनता के साथ ही साथ रूक्षता का आ जाना स्वाभाविक होता है। मनो वैज्ञानिक तथा दार्शनिक विषय के निबन्ध 'गवेषणात्मक' कोटि मे ही आते हैं।

विवेचनात्मक निबन्धो मे भी तात्त्विकता की प्रधानता होती है और वर्ण्य विषय के गुण-दोषो के साथ ही उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। इसमे भाषा का परिष्कृतरूप तो होता है, किन्तु वाक्यों का आकार लघु रखा जाता है और विषय को सरस बनाने के लिए बीच-बीच मे अलङ्कारो का भी पुट दे दिया जाता है। सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक राजनीतिक निबन्ध इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

हमारे विचार मे निबन्ध के पूर्वोक्त चार प्रकार ही अधिक उचित हैं अधिक भेद-प्रभेद पाठक को उलझा देते हैं। लेखक बहुसंख्यक हैं, अत उनक शैलियाँ बहुसख्यक हैं।

उत्तम शैली के निबन्ध की विशेषतायें

१ प्रसादगुण २ क्रम, संगति, सगठन और अन्विति मे एकता ३. आकाक्ष योग्यता तथा सन्निधि का प्रविधान ४ पुनरावृत्ति का अभाव ५. अलंकारो के भार से मुक्ति ६ लाघव की प्रवृत्ति ७ प्रभावोत्पादकता ८. लक्षणा-व्यंजन का उचित प्रयोग ९. हृदयपक्ष तथा बुद्धिपक्ष मे सामञ्जस्य १०. परिपूर्णत ११ कुशलअभिव्यक्ति।

इस प्रकार निबन्ध मे गद्य की समस्त विधाओ की मुख्य विशेषतायें केन्द्रित प्रतीत होती हैं। तभी तो आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"शब्दो की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों मे सबसे अधिक सम्भव है, यह कविता, नाटक उपन्यास आदि से सम्भव नही।"

हिन्दी के सुधी समीक्षक आचार्य गुलाबराय ने निबन्ध की जो परिभाषा दी है, उसमे स्पष्टरूप से निबन्ध की प्रमुख विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं—

"निबन्ध उस गद्यरचना को कहते हैं, जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन, एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।

—काव्य के रूप, पृ० २३६

हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध (चिन्तामणि भाग १ तथा २) विशेष प्रसिद्ध हैं। वैसे इधर नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० नगेन्द्र ने इस विधा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है। युग की बढ़ती हुई प्रवृत्तियो के साथ निबन्ध के भी नूतन क्षेत्रों की खोज हुई है। यात्री सम्बन्धी निबन्ध एव आगेट सम्बन्धी निबन्धो के अतिरिक्त वैज्ञानिक निबन्धो का भी द्वार खुल गया है। 'चन्द्रविजय' के पश्चात् हिन्दी साहित्य के निबन्धो मे भी एक नया मोड आ गया है। इस प्रकार हिन्दी निबन्ध की गति [illegible] है।

जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में 'गद्य' का [illegible] है, उसी प्रकार 'गद्य का [illegible] रचनाओं में भी गद्य को कविता की कसौटी माना है।' गद्य कविता [illegible]।" इसका कारण यह है कि गद्यकाव्य में गद्य की अपेक्षा कवि [illegible] को अधिक स्वच्छन्दता रहती है। हिन्दी में गद्य रचनायें तो बहुत [illegible] होती आई हैं, किन्तु पारिभाषिक 'गद्यकाव्य' आधुनिक युग की देन है।

'गद्यकाव्य' में 'छन्दोबद्धता' के अतिरिक्त काव्य के समस्त उपादान विद्यमान रहते हैं। यदि गद्यकाव्य को 'भावात्मकशैली का निबन्ध' कहें, तो वास्तविकता से अधिक दूर न होंगे। वैसे सूक्ष्म अन्तर तो है ही। 'भावात्मक निबन्ध' में भावुकता की प्रधानता तो अनिवार्य होती है, पर उसकी शैली प्रायः सुनिश्चित रहती है। 'गद्यकाव्य' में लेखक या कवि का कथ्य सांकेतिक या प्रतीकात्मक रहता है। वह चुने हुए शब्दों के माध्यम से अपने भावों एवं विचारों का अभिव्यञ्जनामात्र करता चलता है और भावों तथा विचारों की विविध तथा क्रमबद्ध शृंखला प्रस्तुत करता हुआ उद्देश्यपूर्ति पर उसकी समाप्ति कर देता है। इसके लेखन में कलाकार अर्थगाम्भीर्य का ध्यान बराबर बनाये रहता है,

किन्तु भावात्मकता की प्रधानता के कारण बुद्धितत्त्व को गौण स्थान देता
इसमें 'कल्पना' के साथ ही अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक एवं मानवीकरण
अलंकार भी अपने स्वाभाविकरूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। 'कथावस्तु' तु
मात्र की होती है, परिपार्श्व के रूप में देशकाल का चित्रण रहता
भावात्मकशैली की—धाराशैली, तरगशैली और विक्षेपशैली,
प्रयोग सम्भव रहता है।

गद्यकाव्य के तत्त्व

१. भावतत्त्व २ कल्पनातत्त्व ३. बुद्धितत्त्व ४. शैलीतत्त्व।

इनमें बुद्धितत्त्व गौण रहता है और भावतत्त्व के साथ
प्रधानता रहती है। शैलीतत्त्व मे छन्द, लय, संगीतात्मकता
रहता है, उसमें लक्षणा और व्यंजना की प्रधानता रहती है।
एवं सकेतात्मकता के साथ सूक्ष्मता एवं प्रभावकारिता की
होती है।

परिभाषा

"गद्यकाव्य गद्य की वह साहित्यिक विधा है, [illegible]
विषय की भावात्मक-अतिरेक परम्परा में आकर [illegible]
के माध्यम से अपने विचारों की कलात्मक [illegible]

यद्यपि हिन्दी मे 'द्विवेदीयुग' से ही [illegible]
किन्तु वस्तुतः 'गीताञ्जलि' के प्रभाव से [illegible]
प्रारम्भ मानना सगत है। वियोगीहरि का '[illegible]
इनके अतिरिक्त चतुरसेनशास्त्री, तेजनारायण,
[illegible] वर्मा, रायकृष्णदास, शान्तिप्रसाद वर्मा [illegible]
'गद्यकाव्य-लेखक' माने जाते हैं।

रेखाचित्र

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की नूतन गद्य

किन्तु भावात्मकता की प्रधानता के कारण बुद्धितत्त्व को गौण स्थान देता है इसमे 'कल्पना' के साथ ही अन्योक्ति, समासोक्ति, रूपक एवं मानवीकरण आदि अलंकार भी अपने स्वाभाविकरूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। 'कथावस्तु' तो नाम मात्र की होती है, परिपार्श्व के रूप में देशकाल का चित्रण रहता है। इसमें भावात्मकशैली की—धाराशैली, तरगशैली और विक्षेपशैली, इन तीनों का प्रयोग सम्भव रहता है।

गद्यकाव्य के तत्त्व

१. भावतत्त्व २. कल्पनातत्त्व ३. बुद्धितत्त्व ४. शैलीतत्त्व।

इनमें बुद्धितत्त्व गौण रहता है और भावतत्त्व के साथ कल्पनातत्त्व की प्रधानता रहती है। शैलीतत्त्व में छन्द, लय, संगीतात्मकता आदि का अभाव रहता है, उसमे लक्षणा और व्यंजना की प्रधानता रहती है। प्रतीकात्मकता एवं सकेतात्मकता के साथ सूक्ष्मता एव प्रभावकारिता की स्थिति अनिवार्य होती है।

परिभाषा

"'गद्यकाव्य गद्य की वह साहित्यिक विधा है, जिसमे कलाकार किसी विषय की भावात्मक-अतिरेक परम्परा में आकर कल्पना, सकेतो एवं प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारो की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है।"

—स्वर्विन्

यद्यपि हिन्दी में 'द्विवेदीयुग' से ही गद्यकाव्य का प्रणयन होने लगा था, किन्तु वस्तुत' 'गीताञ्जलि' के प्रभाव से रायकृष्णदास' के 'छायापथ' से इसका प्रारम्भ मानना संगत है। वियोगीहरि का 'अन्तर्नाद' एक श्रेष्ठ 'गद्यकाव्य' है। इनके अतिरिक्त चतुरसेनशास्त्री, तेजनारायण, डा० रघुवीर सिंह, रावी, अज्ञेय, रामकुमार वर्मा, रजनीश, शान्तिप्रसाद वर्मा एवं राजनारायण मेहरोत्रा हिन्दी के उत्तम 'गद्यकाव्य-लेखक' माने जाते हैं।

रेखाचित्र

'रेखाचित्र हिन्दी-साहित्य की नूतन गद्यविधाओं मे विशेष उल्लेखनीय है।

शब्द 'चित्रकला' से साहित्य-जगत् में प्रविष्ट हुआ है। चित्रकला में रेखा, और रंग इन दोनों का प्राधान्य होता है। रेखाओं द्वारा भावाङ्कन किया जाता है और रंग रूप तथा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं। चित्रकला में तो रंगों का प्रयोग होता है, पर 'रेखाचित्र' में रंगों का प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार चित्र में चौड़ाई सम्भव है पर 'रेखाचित्र' में नहीं। इसमें तो रेखाओं द्वारा ही मनोगत भावों का चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

साहित्य में 'रेखाचित्र' अंग्रेजी के Sketch शब्द का समानार्थक है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका की कलात्मक गति से रेखाओं में सजीवता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार 'रेखाचित्रकार' भी अपनी लेखनी की कलात्मक गति से शब्दों में ऐसी सजीवता उत्पन्न करता है, जिससे वर्ण्यवस्तु व्यक्ति अथवा घटना का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार "एकात्मक विषय विशेष की रेखाओं का थोड़े से सामिरस्य से शब्द रेखाओं के माध्यम द्वारा एक सजीव रूप उभार देना 'रेखाचित्र' कहलाने लगा।

परिभाषा

'रेखाचित्र' वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का शब्दों द्वारा विनिर्मित वह मर्मस्पर्शी और भावमय रूपविधान है जिसमें कलाकार का सम्वेदनशील हृदय और उसकी सूक्ष्मपर्यवेक्षणशक्ति अपना निजीपन उडेलकर प्राण प्रतिष्ठा कर देती है।"

'रेखाचित्र' पाश्चात्य साहित्य से समागत 'हिन्दी-साहित्य' की नूतन गद्यविधा है। अभी तक कहानी आदि की भाँति इसके मूलतत्त्वों का स्पष्ट निर्धारण नहीं हो पाया है। प्रायः इतना तो सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि 'रेखाचित्र' में अनुभूति की सम्वेदनशीलता, समुचित शब्द-चयन एवं अभिव्यक्ति-कौशल का होना अनिवार्य है।

रेखाचित्र का स्वरूप

'रेखाचित्र' के तत्त्वों में वर्णन की वास्तविकता का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथार्थता की विश्वसनीयता और विषय की अनुभूत वास्तविकता उसकी प्रमुख विशेषतायें हैं। घटनाओं एवं परिस्थितियों का उतना ही वर्णन अपेक्षित होता है, जितना पाठक की सम्वेदना को जाग्रत करने के लिए जरूरी हो।

कथा विस्तार के लिए यहाँ स्थान नहीं होता और न किसी प्रकार की वि सजावट ही उपयुक्त समझी जाती है ।

'रेखाचित्र' मे एकात्मकता होती है । उसमे विविधता के लिए स्थान न होता; अर्थात् लेखक का अपने वर्ण्य विषय से चिपटा रहना आवश्यक जाता है, उसको थोडे समय के लिए भी कही बहक जाने का अवकाश न रहता । उसकी लाइन टेढी-मेढी और स्थूल न होकर, सीधी और सूक्ष्म हो हैं । डा० नगेन्द्र का मत है—"रेखाचित्र मे दो 'डायमेन्शन' होती हैं, एक लेर और उसके एकात्मक विषय के बीच की संयोजक रेखा, और दूसरी, इर सम्बद्ध रूप और पाठक के बीच की संयोजक रेखा । रेखाचित्र का विषय निश्च ही एकात्मक होता है, उसमें एक व्यक्ति या एक वस्तु ही उद्दिष्ट रहती है ।'

इसी प्रकार 'रेखाचित्र' की शैलीगत विशेषताओं मे तीन बातें आवश्यक हो हैं :—१ मार्मिकता २ तीव्रता ३ लाघव की प्रवृत्ति इनमे मार्मिकता अं तीव्रता (पैनापन) का सम्बन्ध केवल शब्दों से नही होता, किन्तु 'लाघव की प्रवृ का सम्बन्ध 'शब्दगत' ही अधिक होता है । इस हेतु लेखक "है, था" आ सहायक क्रियाओं का भी परित्याग कर देते हैं ।

विषय

यद्यपि 'रेखाचित्र' के तीन विषय हो सकते हैं :—१. व्यक्ति २ व ३ घटना, किन्तु अधिकाश रेखाचित्र व्यक्तिनिष्ठ ही होते हैं । उनमे व्यक्ति व मुद्राओं एवं चेष्टाओ के रूपवर्णन के साथ ही उसकी चारित्रिक विशेषताओ व भी चित्र खीचा जाता है ।

रेखाचित्र की विशेषतायें

उच्चस्तरीय रेखाचित्र मे निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं :—

१ व्यग्यात्मक शैली २. लोकोक्तियो एव मुहावरो का प्रयोग ३ सर एव सशक्त भाषा ४ स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रण (बाह्य एवं आन्तरिक चित्रण . स्वानुभूति की सत्यता ६ बिम्ब ग्रहण ७ सम्वेदनात्मक पुट ८ जीवन क गम्भीर विवृत्ति ९ काव्यात्मकता १० ज्ञानवैविध्य ११. मनोवैज्ञानिक विश्ले पण १२. तीव्र प्रभावकारिता ।

महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों में उपर्युक्त समस्त विशेषतायें न्यूनाधिक रूप में पाई जाती हैं । इस दृष्टि से उनका 'भक्तिन' शीर्षक रेखाचित्र अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का होता है । रेखाचित्र की विशेषताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए उसके निम्नलिखित तत्त्व कल्पित किये जा सकते हैं —

रेखाचित्र के तत्त्व

१ विषयवस्तु की सजीवता २ शब्द चित्रात्मकता ३ स्थूल तथा सूक्ष्म चित्रण ४ तीव्र अभिव्यंजना ५ वैयक्तिक प्रभाव ६ काव्यात्मकता ७ सशक्त शैली ।

इन तत्त्वों के ही अन्तर्गत तीन तत्त्व ऐसे हैं, जो किसी भी रेखाचित्र के लिए अनिवार्य होते हैं — १ अनुभूति की सम्वेदनशीलता २ सशक्त शब्द चयन ३ अभिव्यक्ति कौशल

रेखाचित्र के प्रकार

१ वर्णन प्रधान रेखाचित्र २ संस्मरणात्मक रेखाचित्र ३ सम्वेदनात्मक रेखाचित्र ४. व्यंग्यात्मक रेखाचित्र ५ रूपात्मक रेखाचित्र ६ मनोवैज्ञानिक रेखाचित्र ।

इनमें प्रथम में वर्णन की प्रधानता होती है । द्वितीय में पूर्वस्मृति के आधार पर लेखक किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना का चित्रण करता है । तृतीय में वर्ण्य-विषय के प्रति लेखक की सम्वेदना प्रकट रहती है । चतुर्थ में किसी पात्र विशेष के कार्य अथवा स्वभाव पर व्यंग्य किया जाता है । पंचम में रूपक के माध्यम से वर्ण्यविषय को स्पष्ट किया जाता है और षष्ट में किसी पात्र विशेष की मनोवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक पद्धति से प्रकाशन किया जाता है ।

रेखाचित्र तथा संस्मरणादि में अन्तर

रेखाचित्र 'संस्मरण' से भिन्न होता है । संस्मरण में तो किसी व्यक्ति के क्षणों की याद को लेखक अनुभूति का सबल बनाकर उसे आत्मकथन के रूप में प्रस्तुत करता है, परन्तु रेखाचित्र में लेखक उसका चरित्रचित्रण भी करता है । इसके अतिरिक्त संस्मरण में देशकाल का चित्रण अधिक होता है, रेखाचित्र

हो गया। संस्मरण में लेखक [illegible] [illegible] रहता है रेखाचित्र में उतन
नहीं। संस्मरण के लिए चित्रात्मक शैली [illegible] नहीं, किन्तु रेखाचित्र
लिए अनिवार्य है।

इसी प्रकार 'रेखाचित्र' तथा 'रिपोर्ताज' इन दोनों में पर्याप्त साम्य है
पर भी अन्तर है। संवेदनात्मक अनुभूति का चित्रण तथा यथार्थता की वि
सजीवता दोनों में होती है, किन्तु 'रिपोर्ताज' में घटना अथवा दृश्य की
नता होती है, जबकि रेखाचित्र में व्यक्ति एवं चरित्र की प्रधानता होती
रिपोर्ताज में वातावरण और परिस्थिति का चित्रण अनिवार्य होता है,
रेखाचित्र में चित्रित विषय के अन्तर्गत ही वातावरण तथा परिस्थिति
के रूप में आ जाती हैं, अर्थात् गौण रहती हैं।

इसी प्रकार रेखाचित्र 'कहानी' से भी भिन्न है। कहानी 'कल्पना' प
आश्रित हो सकती है, पर रेखाचित्र तो अनुभूति प्रधान ही होता है। रेखाचि
की प्रकृति स्थिर है और कहानी की गतिशील। रेखाचित्र अधिक वैयक्तिक कल
है, कहानी सामाजिक।

हिन्दी में रेखाचित्र का प्रारम्भ पद्मसिंह शर्मा के 'पद्मपराग' निबन्धों
(१९२९) माना जाता है, किन्तु वस्तुतः श्रीराम शर्मा (१९३७) की रचना 'बोल
प्रतिमा' से इसका वास्तविक रूप प्रकट हुआ है। इस क्षेत्र में महादेवी वर्मा
'अतीत के चलचित्र' (१९४१) स्मृति की रेखायें (१९४७) तथा 'पथ के सा
(१९५६) संग्रह विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त रामवृक्ष
पुरी -सी० गुप्त, बनारसी दास चतुर्वेदी, डा० विनय मोहन शर्मा,
सत्यार्थी एवं प्रेमनारायण टंडन के नाम उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण

हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में 'संस्मरण' भी एक नूतनविधा मानी
पाश्चात्य-साहित्य के प्रभाव से ही हिन्दी क्षेत्र में
अनुभूति का आश्रय लेकर किसी महान व्यक्ति या उज्ज्व
हैं, तो वही 'संस्मरण' हो जाता है। इस प्रकार 'संस्म
ही है। यह बात दूसरी है कि कुछ बातों में संस्म

'देशकाल' का चित्रण अधिक रहता है। संस्मरण में लेखक 'आत्मकथा' के रूप में चित्रण करता है, रेखाचित्र में वह इतना आत्मनिष्ठ नहीं होता। संस्मरण के लिए 'चित्रात्मकशैली' अनिवार्य नहीं, किन्तु 'रेखाचित्र' के लिए तो 'चित्रात्मकशैली' अनिवार्य है। जब संस्मरण में लेखक प्रधान होता है, तब उसे Reminiscence) (रेमिनिसेंस) कहते हैं और जब कोई अन्य व्यक्ति प्रधान होता है, तब उसे (Memoires या 'मेमायर्स') कहते हैं। 'मेमोयर्स' में इतिहासतत्त्व अनिवार्य होता है, पर 'रेमिनिसेंस' में अनिवार्य नहीं होता।

'संस्मरण प्रायः आत्मकथा के अधिक समीप होता है। 'आत्मकथा' में लेखक का दृष्टिकोण अपनी 'जीवन गाथा' के वर्णन की ओर अधिक झुका रहता है, जबकि 'संस्मरण' में उसका दृष्टिकोण मधुर स्मृतियों के चित्रण की ओर झुका प्रतीत होता है। 'आत्मकथा' में लेखक के जीवन की प्रधानता अनिवार्य होती है, पर 'संस्मरण' में लेखक के जीवन की उतनी प्रधानता नहीं रहती। इसी प्रकार 'यात्रा-साहित्य' भी 'संस्मरण' से साम्य रखता है। अन्तर यह है कि 'यात्रा-साहित्य' में लेखक का दृष्टिकोण अधिक भावात्मक न होकर 'वर्णनात्मक' होता है, जबकि 'संस्मरण' में 'वर्णनात्मकता' गौण होती है और भावात्मकता मुख्य होती है।

हिन्दी में 'संस्मरण-लेखन' का कार्य तो द्विवेदी-युग से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उस समय इसमें प्रौढ़ता नहीं आई थी। श्रीनारायण चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी, देवेन्द्र सत्यार्थी, महादेवी वर्मा, शान्ति प्रिय द्विवेदी आदि लेखकों के संस्मरण उत्तमकोटि के माने जाते हैं।

जीवनी

भारतवर्ष में 'जीवनी-साहित्य' प्राचीनकाल से ही प्रचलित रहा है। हिन्दी में 'वार्ता-साहित्य' 'चौरासी-वैष्णवों की वार्ता, दो सौ वैष्णवों की वार्ता, गुसाईं चरित आदि' एक प्रकार का जीवनी-साहित्य ही हैं, परन्तु आज जिस रूप में यह साहित्य प्रचलित है, वह पाश्चात्य-साहित्य की देन है। अंग्रेजी में जिसे Biography (बाइग्राफी) कहते हैं, हिन्दी में उसी को 'जीवनी' कहते हैं। यह आधुनिक हिन्दी-गद्य की नूतनविधा है।

परिभाषा

पाश्चात्य विद्वानों ने 'जीवनी' या (बायग्राफी) की अनेक परिभाषायें की हैं। डा० जानसन के अनुसार "जीवनी का लक्ष्य जीवन की उन घटनाओं और क्रियाकलापों का रोचक वर्णन करना होता है, जो व्यक्ति-विशेष की बड़ी से बड़ी महानता से लेकर छोटी से छोटी घरेलू बातों तक से सम्बन्धित होती है।"

'शिप्ले' के अनुसार "जीवनी किसी व्यक्ति विशेष की जीवन-घटनाओं का विवरण है। अपने आदर्शरूप में वह प्रयत्न पूर्वक लिखा गया इतिहास है, जिसमें व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी अंश से सम्बन्धित बातों का विवरण मिलता है। ये आवश्यकतायें उसे एक साहित्यिक विधा का रूप प्रदान करती हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से 'जीवनी' का पूर्णरूप तो स्पष्ट नहीं हो पाता, किन्तु उसकी एक रूपरेखा का भान अवश्य हो जाता है। वस्तुतः "जीवनी, वह साहित्यिक विधा है, जिसमें भावुक कलाकार किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण-जीवन या जीवन के किसी भाग का वर्णन परम सुपरिचित ढंग से इस प्रकार व्यक्त करता है कि उस व्यक्ति की सच्ची जीवन-गाथा के साथ-साथ कलाकार का हृदय भी मुखरित हो उठता है।"

जीवनी का स्वरूप

लेखक किसी व्यक्ति विशेष के जीवन को जिस रूप में देखता और अनुभव करता है, उसी को वह साहित्यिक रूप में व्यक्त कर देता है। इसमें व्यक्ति के जीवन का इतिहास ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। जीवन के दो पक्ष होते हैं—१. आन्तरिक पक्ष २. बाह्यपक्ष। आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध स्वभाव, चेष्टा एव चरित्रादि से होता है और बाह्य पक्ष का सम्बन्ध उसके रूप, आकृति एव बाह्य क्रियाकलापों से होता है। इसी प्रकार 'जीवनी' में भी वर्ण्य व्यक्ति के आन्तरिक एव बाह्य व्यक्तित्व का यथार्थ चित्रण किया जाता है। जीवनी लेखन में लेखक जितना ही तटस्थ एव निष्पक्ष रहेगा, वह उतना ही सफल होगा। इसके अतिरिक्त उक्त व्यक्ति के विषय में लेखक को पूर्ण ज्ञान होना भी अपेक्षित होती है। इसमें लेखक वर्ण्यपात्र के जीवन की छोटी से छोटी

बातों का भी उल्लेख करता है । वह घर में कैसा है और बाहर सामाजिक जीवन में कैसा है, इसका उल्लेख करने से ही व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उभर-कर सामने आता है । जीवनी-लेखक का यह कर्तव्य होता है कि वह वर्ण्यपात्र के जीवन का क्रमिक अन्वेषण प्रस्तुत करे, उसके वर्णन सत्य पर आधारित एवं प्रामाणिक हों । जीवनी लेखन में लेखक को 'सहृदयता' की भी आवश्यकता पड़ती है । इसके अभाव में 'जीवनी' न होकर 'इतिहास' हो जायगी ।

जीवनी के तत्त्व

१ ऐतिहासिक आधार २ क्रमबद्धता ३ रोचकता ४ कोमलता ५. मसृणता ६ अभिव्यक्ति कौशल ७ स्थूल एवं सूक्ष्म चित्रण ।

विशेष :–उपर्युक्त तत्त्व अभी सर्वमान्य नहीं हैं, किन्तु किसी भी उच्च स्तरीय 'जीवनी' में प्राप्त हो सकते हैं ।

जीवनी लेखन के स्रोत

प्रो० कैलर ने जीवनी लेखक के लिए निम्नलिखित पंचस्रोत बतलाये हैं :–

१ उस विषय पर या उससे सम्बद्ध लिखित पुस्तकें । १. मूल सामग्री-पत्र, डायरी आदि ३ समकालीनों के संस्मरण ४ जीवित व्यक्तियों से उपलब्ध सामग्री ५ चरितनायक के निवास स्थलों का भ्रमण एवं पर्यवेक्षण ।

वस्तुतः उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर लिखी गई जीवनी प्रामाणिक होती है । यदि लेखक इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा करता है, तो हो सकता है कि कोई तथ्य विशेष छूट जाय अथवा सत्य से कुछ दूर भटक जाय ।

जीवनी के प्रकार

जब कलाकार स्वयं अपनी जीवनी लिखता है, तब उसे 'आत्मकथा' (आटो-बाईग्राफी) कहते हैं और जब किसी अन्य की जीवनी लिखता है, तब उसे 'जीवनी' कहते हैं । इस प्रकार जीवनी के उक्त दो भेद होते हैं । 'आत्मकथा' के लिखने में जहाँ लेखक को यह सुविधा होती है कि उसे तथ्यों की जानकारी के लिए किसी स्रोत की खोज में भटकना नहीं होता, वहाँ उसके समक्ष 'ईमान-दारी' का प्रश्न एक जटिल-समस्या उत्पन्न कर देता है । उसे अपनी कमजो-

१ कर्त्तव्यपरक जीवनी २ लोकप्रिय जीवनी ३ विद्वत्तापूर्ण जीवनी ४ मनो-
वैज्ञानिक जीवनी ५ कलात्मक जीवनी ६ व्यंग्यात्मक जीवनी ।
प्रथम में लेखक या तो अपनी जीवनी लिखता है, जिसे आत्मकथा कहते हैं
या अपने किसी प्रिय पारिवारिक या सम्बन्धी का जीवन प्रस्तुत करता है,
र 'जीवनी' कहते हैं । इसमें लेखक की तटस्थता का विशेष मूल्य होता है ।
रे में किसी ऐसे पात्र की जीवनी लिखी जाती है, जो लोक में अपने चरित्र
कार्यकलाप द्वारा प्रसिद्ध हो । तृतीय में किसी विद्वान की जीवनी लिखी
है जो किसी विद्या विशेष के लिए विख्यात रहा हो । चतुर्थ में लेखक
वर्ण्यपात्र के बाह्यचित्रण की अपेक्षा उसके आन्तरिक चित्रण (स्वभाव,
, मनोवेग, प्रवृत्ति आदि) पर अधिक ध्यान देता है । पञ्चम में लेखक
ान कलात्मकता की ओर अधिक रहता है । इसमें वह वास्तविकता से
र हटता हुआ प्रतीत होता है । षष्ठ में लेखक अपने वर्ण्यपात्र के रूप,
, चरित्र आदि का वर्णन व्यंग्यात्मक शैली द्वारा करता है । इसमे प्रभाव-
ा अधिक होती है और लेखक को अपनी मूल अभिव्यंजना में विशेष
ा मिलती है ।
न सभी प्रकार की जीवनियों का लक्ष्य 'मानव जीवन' को उपदेश प्रदान
होना है, अत 'शिप्ले' ने सभी को 'उपदेशात्मक जीवनी' के रूप में
प्रदान की है । कुछ लोग जीवनी के तत्त्व इस प्रकार मानते हैं —
कथावस्तु २ चरित्र चित्रण ३ देशकाल ४ उद्देश्य ५ शैली । विचार
र हमारे द्वारा प्रदर्शित सात तत्त्वों के अन्तर्गत ही ये पचतत्त्व आ जाते

हैं। ऐतिहासिक आधार और क्रमबद्धता में कथावस्तु आजाती है, 'स्थूल तथ सूक्ष्म चित्रण' के अन्तर्गत 'चरित्र चित्रण' आ जाता है और 'देशकाल' भी स्थूल चित्रण में स्थान पा जाता है। रोचकता, कोमलता और मसृणता का सम्बन्ध उद्देश्य से ही है। इसी प्रकार 'अभिव्यक्ति कौशल' के अन्तर्गत 'शैलीतत्त्व' का भी समावेश हो जाता है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में जीवनी-साहित्य एवं आत्मकथा-साहित्य विकास के पथ पर है। महात्मा गान्धी, प० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद डा० राधाकृष्णन, लोकमान्य तिलक एवं लाला लाजपतराय आदि महापुरुषों पर लिखी गई जीवनगाथायें हिन्दी-साहित्य में अमर हैं।

रिपोर्ताज (सूचनिका)

हिन्दी गद्य-साहित्य के क्षेत्र में 'रिपोर्ताज' एक नूतन गद्यविधा मानी जाती है। 'रिपोर्ताज' शब्द 'फ्रेंच' भाषा का है और अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' शब्द से साम्य रखता है। इसे हिन्दी में 'सूचनिका' अथवा 'वृत्त-निर्देश' कहते हैं। इसमें किसी 'घटना' की रिपोर्ट को साहित्यिक रूप प्रदान किया जाता है। लेखक उस 'घटना स्थल' पर स्वयं उपस्थित रहता है, अत. इसमें तथ्य की प्रधानता रहती है और कल्पना के लिए बहुत कम स्थान रहता है। इसका लेखक अधिकाधिक जनसम्पर्क में रहता है, अत उसे किसी घटना की वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान रहता है।

परिभाषा

"रिपोर्ताज' गद्य की वह विधा है, जिसमें किसी घटना का वर्णन इस कलात्मक ढंग से किया जाता है कि पाठक उसके सत्य से सहज ही प्रभावित हो सके।"

तत्त्व

१ घटना प्रधान कथावस्तु २ तथ्याङ्कन ३ भावात्मकता ४. चित्रात्मक शैली ५ देशकाल तथा वातावरण ६ उद्देश्य।

विश्लेषण

'रिपोर्ताज' का लेखक एक ही साथ 'पत्रकार' एवं 'साहित्यकार' होता है।

जहाँ वह किसी घटना के मूल तथ्यों का आकलन करता है, वहाँ उसे और अधिक प्रभावशील बनाने के लिये उसे साहित्यिक रूप प्रदान करता है, जिसमें भावुकता और स्वच्छन्दता का भी मिश्रण हो जाता है। रिपोर्ताज की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि उसमें वस्तुसत्य को किस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है। इस अभिव्यक्ति के लिए लेखक को चित्रात्मक शैली का प्रभावपूर्ण आश्रय लेना पड़ता है।

इसमें लेखक को 'वर्ण्यघटना' का यथार्थ परिचय प्राप्त करना होता है और उक्त घटना से सम्बद्ध पात्रों का प्रभावपूर्ण चित्रण करने के लिए उसे मनोवैज्ञानिक पुट भी देना होता है। 'रिपोर्ट' और 'रिपोर्ताज' में मूल अन्तर यही है कि 'रिपोर्ट' में किसी घटना का ऐसा यथार्थ चित्रण होता है, जिसमें साहित्यिकपुट नहीं होता, किन्तु रिपोर्ताज में घटना की यथार्थता के साथ ही साहित्यिकपुट भी रहता है। तात्पर्य यह कि 'रिपोर्ट' के कलात्मकरूप का नाम 'रिपोर्ताज' है। इसमें लेखक की सम्वेदनानुभूति भी सम्मिलित रहती है।

रिपोर्ताज और कहानी

यद्यपि दोनों में घटनाओं के चित्रण के कारण साम्य प्रतीत होता है, पर रिपोर्ताज, कहानी से कई बातों में भिन्न होता है। कहानी में घटना या अन्य तत्व एक ही लक्ष्य की ओर तीव्रता से बढ़ते हैं, किन्तु रिपोर्ताज में अनेक घटनाओं एवं उद्देश्यों का समन्वय रहता है। कहानी काल्पनिक हो सकती है, पर रिपोर्ताज नहीं।

निष्कर्ष यह कि रिपोर्ताज की रचना में लेखक को घटना का पूर्ण विवरण ज्ञात होना चाहिए और उक्त घटना से सम्बद्ध पात्रों का प्रभावपूर्ण तथा परिष्कृत चित्रण करना चाहिए। लेखक को घटना का विवरण प्रस्तुत करने में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे पाठक
हो सकें।

हिन्दी में इस विधा का श्रीगणेश 'बंगाल के अकाल'
हुआ है। पी० सी० गुप्त, डा० रांगेयराघव, डा० प्रभाकर माचवे
एवं शिवदानसिंह चौहान प्रभृति लेखक इस विधा के मुख्य

इण्टरव्यू (साक्षात्कार)

यह हिन्दी गद्य की अभिनव विधा है। इसके लेखन के लिए लेखक किसी व्यक्ति विशेष से स्वय जाकर मिलता है और उससे अनेक प्रश्न करता है। इस प्रकार वह उससे प्राप्त उत्तरो की सहायता से उक्त व्यक्ति के विचारो का आकलन और विश्लेषण करता है। इसमे "सम्वाद" की प्रधानता अनिवार्य होती है। इस नूतन युक्ति द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन या चरित्र को स्पष्ट किया जाता है। इस विधा मे तार्किकता स्पष्ट रहती है। लेखक को ऐसे प्रश्नो का चयन करना पड़ता है, जिनके उत्तर से इण्टरव्यू देने वाले व्यक्ति का चरित्र स्वतः उभरकर सामने आ जाय।

स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए 'इण्टरव्यू' के लेखक को बहुत सतर्क रहना होता है। उसे इण्टरव्यू देने वाले व्यक्ति से ऐसी भी बातें सुनने को मिल सकती हैं, जो प्रतिकूल, असगत एव भ्रामक हो। इस स्थिति मे लेखक ने अपनी प्रतिक्रिया किस प्रकार व्यक्त की, इसका भी उल्लेख करना होता है। इस विधा मे लेखक स्वतः कम से कम बोलता है, वह प्रश्नों के माध्यम से इण्टरव्यू देने वाले को ही बात करने का अधिक अवसर देता है।

परिभाषा

'इण्टरव्यू' गद्य की वह नूतन विधा है, जिसमें लेखक किसी व्यक्ति विशेष के चरित्र, विचार या जीवन को समझने के लिए उससे स्वयं मिलकर अनेक सम्बद्ध प्रश्नो द्वारा उत्तर संकलित करता हुआ निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। (स्वरचित)

इण्टरव्यू के तत्त्व

(१) सतर्कसम्वाद (२) क्रमबद्धता (३) सक्षिप्तता (४) मनोवैज्ञानिक पुट
(५) विकता (६) परिष्कृत प्रश्नावली (७) सशक्त भाषाशैली।

व्यस्त युग मे 'इण्टरव्यू' की बड़ी महत्ता है। उदाहरणार्थ यदि वि से मिलकर किसी विषय मे उसका दृष्टिकोण जानना चाहते हैं, माध्यम से अल्पसमय मे ही मूल जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

वस्तुतः 'हिन्दी-गद्य' के क्षेत्र में 'इन्टरव्यू' अभी शैशवावस्था में है, परन्तु
इस विकास की सम्भावनायें है। जिस प्रकार उपन्यास का स्थान 'लघुकथा'
ने ले लिया है, इसी प्रकार 'जीवनी-साहित्य' का स्थान 'इन्टरव्यू' भी ले सकता
है किन्तु अभी इसकी टेक्निक के लिए विकास अपेक्षित है।

पद्यकाव्य

काव्य के दृश्य और श्रव्य, ये दो भेद है। दृश्य के अन्तर्गत नाटक, एकांकी
आदि विधायें आती है और 'श्रव्य' के अन्तर्गत गद्य पद्य तथा मिश्र (चम्पू)
रचनायें आती है। पिछले पृष्ठों मे 'गद्य' की प्रमुख विधाओं के रचनासिद्धान्तो
का विवेचन किया जा चुका है, अतः अब 'पद्यकाव्य' के प्रमुख भेदो का विवरण
प्रस्तुत है। 'पद्यकाव्य' में बन्ध की दृष्टि से तीन भेद माने जाते है --१ प्रबन्ध
काव्य २. मुक्तककाव्य ३ मुक्तकप्रबन्धकाव्य। इनमें आकार एवं उद्देश्य की
दृष्टि से 'प्रबन्धकाव्य' का विशेष महत्व है। इसके तीन भेद किये जाते हैं :—
१ महाकाव्य २. खण्डकाव्य ३ एकार्थकाव्य। मुक्तक के भी दो या तीन
भेद किये जाते है :— १ गीत २ छन्द ३ गीति। प्रस्तुत प्रकरण में महा-
काव्य, खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य तथा गीत या गीतिकाव्य पर विचार किया
जायगा।

महाकाव्य

सामान्यतया महाकाव्य बृहदाकार की वह महती काव्य रचना है, जिसमें
जीवन का अत्यन्त व्यापक चित्रण उदात्त मानवीय अनुभूतियो के रूप में कला-

त्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया हो। संस्कृत-साहित्य में महाकाव्य की परि
भाषा एव स्वरूप पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। सर्वप्रथम आ
भामह (५वीं शताब्दी) 'काव्यालंकार' ग्रन्थ मे 'महाकाव्य' के विष
लिखा है –

"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। वह महत्ता का प्रकाशक महान् होता
इसमे अग्राम्य शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें वि
विमर्श, दूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय–ये पंचसन्धियाँ होनी चाहि
अधिक गूढ़ता न हो, उत्कर्ष युक्त हो, चतुर्वर्ग के प्रतिपादन होने पर भी
मुख्य हो। लोकस्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक चित्रण हो। ना
के कुल, बल, शास्त्रज्ञान आदि का उत्कर्ष बनाकर और किसी के उत्कर्ष
लिए नायक का वध नहीं कराना चाहिए।" (१।१९–१।२२)

इनके अनन्तर आचार्य दण्डी (६वीं शताब्दी) ने कुछ विस्तार किय
उन्होने महाकाव्य के प्रारम्भ, वर्ण्यवस्तु, व्यापार सर्ग और छन्द के सम्बन्ध
अधिक ध्यान दिया है। दण्डी ने यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह कही है
"महाकाव्य के इन अंगों में से यदि किसी की न्यूनता भी हो, तो भी कथा-सम्प
का सौन्दर्य आकर्षक होने पर दोष नहीं माना जायगा।" तात्पर्य यह कि मह
काव्य की रसात्मकता मुख्य है, अन्य लक्षण गौण है।

आगे चलकर आचार्य 'आनन्दवर्द्धन' ने 'महाकाव्य' की परिभाषा में कथ
संगठन तथा रस की महत्ता पर विशेष बल दिया। 'भोजदेव' ने 'दण्डी' के
लक्षणों का अनुसरण किया। इनके अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण
में महाकाव्य के विस्तृत रूप पर समन्वित प्रकाश डाला। यथा :—

सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंश क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥ १॥
एकवंशभवा भूपा. कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥ २॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वा नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भव वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥ ३॥

एबरक्राम्बी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Epic (दि एपिक) में लिखा है कि कोई रचना [illegible] आकार से ही महाकाव्य नहीं होती है। महाकाव्य [illegible] शैली वही अपनाती है जिसमें कवित्वशक्ति एवं विचारशक्ति का उदात्त विस्तार हो। इसमें [illegible] और प्रभावशाली [illegible] होता है, जो महाकाव्य की शैली का [illegible] करता है।

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य विषयक परिभाषाओं में 'कथानक' की परिभाषा [illegible] एवं [illegible] की गई है। [illegible] महाकाव्य में परिभाषाओं घटना को [illegible] दी है। इनकी दृष्टि में महाकाव्य मात्र [illegible] एवं [illegible] पर आधारित नहीं होता [illegible] समाज की संस्कृति पर आधारित होता है।

समन्वित रूप

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्यविषयक परिभाषाओं का समन्वित रूप इस प्रकार है :-

'महाकाव्य' सगबद्ध वह विस्तृत प्रबन्ध काव्य है, जिसमें गरिमामयी उदात्त भाषाशैली के माध्यम से इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध महती जीवन कथा का उदात्त भावों एवं विचारों, युगसंस्कृति के गौरवपक्षों, जातीय रीतियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों के साथ सर्वांगपूर्ण चित्रण किया जाता है।

संक्षेप में पाश्चात्य महाकाव्यों में निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं —

१– रोचक एवं विस्तृत एवं सगठित कथावस्तु, जो इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध होती है।
२– इसमें जातीय भावनाओं एवं राष्ट्रीय आदर्शों का प्रतिपादन होता है।
३– इसमें महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध विकास प्रदर्शित किया जाता है।
४– इसकी मुख्यकथावस्तु यथार्थ एवं सजीव होती है।
५– महाकाव्य युगीन-संस्कृति का प्रतिबिम्ब होता है।
६– इसमें उदात्त विचारों एवं भावों के साथ वीर एवं विशिष्ट पात्रों के महत्त्वपूर्ण जीवन का अंकन किया जाता है।
७– संगीतात्मकता एवं पद्यबद्धता के साथ उदात्त भाषाशैली का प्रयोग किया जाता है।

...य तथा पाश्चात्य महाकाव्यीय लक्षणों में अन्तर:

...र्तीय महाकाव्य-लक्षणों एवं पाश्चात्य महाकाव्य-लक्षणों में अधिकांश है केवल कुछ बातों में अन्तर है, उसका कारण अपनी-अपनी सभ्यता ...कृति है।

...न की दृष्टि से उभयत्र महाकाव्य को 'विशालकाय' एवं विस्तृत माना है। दोनों में कथावस्तु का आधार इतिहास अथवा 'लोक प्रसिद्ध आख्यान ...ाना है। दोनों में धीरोदात्त गुण युक्त नायक माना जाता है। दोनों ...र्णन होते हैं। दोनों में जीवन की समग्रतम अभिव्यक्ति दिखलायी जाती ...तना साम्य होते हुये भी कतिपय तत्त्वों में अन्तर है। यथा - भारतीय ...व्यों में 'रस' एक अनिवार्य तत्त्व है किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में इसके ...र जीवन का व्यापक, सम्वेदनात्मक चित्रण अनिवार्य है। भारतीय ...के महापुरुष निष्ठ होने हुए भी लोकपरक होते हैं किन्तु पाश्चात्य ...य स्पष्ट ही 'जातिपरक' होते है। भारतीय महाकाव्यों में आदर्श की ...ा रहती है, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में 'यथार्थ' की। भारतीय महा- ...के लक्षण में प्रकृति चित्रण को विशेष महत्व दिया गया है, किन्तु ...य महाकाव्यों के लक्षणों में इसकी चर्चा तक नहीं की गयी। इसके अति- ...रतीय महाकाव्यों में बाह्यसंघर्ष प्रधान रहता है पर पाश्चात्य महा- ...में 'अन्त. संघर्ष' प्रधान रहता है।

...रतीय एवं पाश्चात्य महाकाव्यीय लक्षणों के आलोचन के पश्चात् महा- ...स्थायी लक्षणों की आवश्यकता प्रतीत होती है। अधिकांश विद्वान ...र से महाकाव्य के निम्नलिखित ८ तत्त्व मानते हैं --

(1) महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्यप्रतिभा।
(2) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व।
(3) महत्वकार्य और युग जीवन का सम्पूर्ण चित्रण।
(4) सुसगठित जीवन्त कथानक।
(5) इतिहास प्रसिद्ध या श्रेष्ठ कुलीन नायक एवं अन्य पात्र।
(6) गरिमामयी उदात्त शैली।

एबरक्रोम्बी' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Epic (दि इपिक) में लिखा है कोई रचना बड़े आकार से ही नहीं, शैली से महाकाव्य बनती है। महाकाव्योचित शैली वही कहलाती है, जिसमें कविकल्पना एवं विचारधारा का उदात्त विद्यमान हो। इसमें एक स्पष्ट और प्रतीकात्मक उद्देश्य होता है, महाकाव्य की गति का आदि से अन्त तक संचालन करता है।

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्यीय परिभाषाओं में 'वाल्टेयर' की परिभा व्यापक एवं समीचीन मानी जाती है।। इन्होंने महाकाव्य में गरिमामयी घट को प्रधानता दी है। इनकी दृष्टि से महाकाव्य बाह्य लक्षणों एवं रूढ़ियों आधारित नहीं होता, वह समाज की स्वीकृति पर आधारित होता है।

समन्वित रूप

पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्यविषयक परिभाषाओं का समन्वित रूप इ प्रकार है :—

'महाकाव्य' पद्यबद्ध वह विस्तृत प्रबन्ध काव्य है, जिसमें गरिमामयी उदा भाषाशैली के माध्यम से इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध महती जीवन कथा उदात्त भावों एवं विचारों, युगसंस्कृति के पोषकतत्त्वों, जातीय चित्तवृत्तियों तथ विशिष्ट चरित्रों के साथ संगीतात्मक चित्रण किया जाता है।

संक्षेप में पाश्चात्य महाकाव्यों में निम्नलिखित तत्त्व पाये जाते हैं —

१— रोचक एवं विस्तृत एवं संगठित कथावस्तु, जो इतिहास प्रसिद्ध य लोकप्रसिद्ध होती है।

२— इसमें जातीय भावनाओं एवं राष्ट्रीय आदर्शों का प्रतिपादन होता है

३— इसमें महत्त्वपूर्ण घटनाओं का क्रमबद्ध विकास प्रदर्शित किया जाता है

४— इसकी मुख्य कथावस्तु यथार्थ एवं गंभीर होती है।

५— महाकाव्य युगीन-संस्कृति का प्रतिबिम्ब होता है।

६— इसमें उदात्त विचारों एवं भावों के साथ वीर एवं विशिष्ट पात्रों के महत्त्वपूर्ण जीवन का अंकन किया जाता है।

७— संगीतात्मकता एवं पद्यबद्धता के साथ उदात्त भाषाशैली का प्रयोग किया जाता है।

विस्तृत रूप मे पाये जाते हैं, पर खण्डकाव्य मे सक्षिप्त एव सकुचित रहते हैं

कथावस्तु

खण्डकाव्य की कथावस्तु मे जीवन की किसी एक घटना, एक परिस्थिति या किसी एक प्रसग का वर्णन किया जाता है और इसमे प्रासगिक कथाओ का भी आधिक्य नही होता । जो प्रासगिक कथायें आती भी है, वे मूलकथा से अतिशय सपृक्त रहती है । कहो-कही तो इन्हे स्थान ही नही दिया जाता । मूल कथावस्तु अत्यन्त चुटीली, चुस्त एव प्रभावशील होती है, वह महाकाव्य की कथा की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एव सुसगठित होती है । कथावस्तु इतिहास मूलक या लोक प्रसिद्धि मूलक होती है, किन्तु इसमे अधिक मोड नही होते ।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

'खण्डकाव्य' मे अत्यावश्यक सीमित पात्र रहते है । प्राय इनकी सख्या ५ या ७ तक होती है । इनका चरित्र-चित्रण पूरी तरह सम्भव नही हो पाता, किन्तु चरित्रो की सक्षिप्त रूप रेखाये अवश्य अकित की जाती है । इन रूप रेखाओ मे मनो वैज्ञानिकता, सजीवता, स्वाभाविकता आदि गुणो का ध्यान रखा जाता है ।

सम्वाद

'खण्डकाव्य के सम्वाद सक्षिप्त, सारगर्भित, पात्रानुकूल, चुस्त, स्वाभाविक सरल एव प्रभावपूर्ण होते हैं । इनमें मनोवैज्ञानिकता और परिस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक होता है । इसके अतिरिक्त ऐसे सम्वादो की सृष्टि की जाती है, जिनमें नाटकीयता के साथ ही कथानक को गति देने की क्षमता हो ।

देशकाल तथा वातावरण

'खण्डकाव्य' में इनके लिये अधिक स्थानता नही रहती, किन्तु कवि अवसर निकालकर कुछ पक्तियो मे इनका सकेत कर देता है, कभी-कभी पात्रो के माध्यम से ही इनकी व्यजना कर देता है ।

रसभाव

'खण्डकाव्य' मे एक रस का ही परिपाक होता है, अन्य रसो की स्थिति

सम्भव नही है । हाँ इतना अवश्य है कि कवि अनेक भावों का प्रदर्शन करता चलता है । प्राय वीर, शृगार एव करुण रस के खंडकाव्य सफल होते हैं ।

उद्देश्य

'खण्डकाव्य' का उद्देश्य उदात्त मानवीय सम्वेदनाओ का प्रकाशन होता है। भारतीय दृष्टि से पाठको को आनन्द की अनुभूति करना उद्देश्य होता है। कवि जीवन के एक खण्ड की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करके पाठको को आकृष्ट करता है । इतना अवश्य है कि महाकाव्य जैसी गुरुता इसके उद्देश्य में नही होती ।

भाषाशैली

'खण्डकाव्य' की भाषा मे भी गुरुत्व एव गाम्भीर्य आवश्यक है । उसमे ध्वन्यात्मकता एव लाक्षणिकता से चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। सरलता, सजीवता, कलात्मकता, सगीतात्मकता आदि गुण इसमें भी होने चाहिए। खण्डकाव्य मे प्राय एक ही प्रकार का छन्द प्रयुक्त होता है । यदि कई सर्ग हुए तो प्रसगानुकूल छन्द भी परिवर्तित हो जाता है ।

परिभाषा

'खण्डकाव्य' की परिभाषा भी एक समस्या है, किन्तु उसके तत्वो एव उसकी विशेषताओ के आधार पर इसका रूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

"'खण्डकाव्य' वह वर्णनप्रधान प्रबन्धकाव्य है, जिसमे जीवन की किसी एक घटना, परिस्थिति या प्रसग का चित्रण करने के लिए किसी इतिहास प्रसिद्ध या लोकप्रसिद्ध व्यक्ति को आधार बनाकर तीव्र प्रभावान्विति एव रस व्यजना का आश्रय लेकर गरिमामयी उदात्त शैली का प्रयोग किया जाता है ।"

यह परिभाषा हिन्दी के सभी खण्डकाव्यो मे घटित हो सकती है । सिद्धराज, यशोधरा पञ्चवटी, नहुप, तुलसीदास आदि खण्डकाव्य इस तथ्य के प्रमाण लिये जा सकते है ।

एकार्थकाव्य

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने प्रबन्धकाव्य के दो ही भेद स्वीकार किये हैं—

मुक्तककाव्य

मुक्तककाव्य पूर्वापर प्रसग से रहित खण्ड-अनुभूतियों का काव्य कहलाता है। मुच्यते इति 'मुक्तकम्' इस व्याख्या से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें एक तथ्य, वस्तु या परिस्थिति का एक ही छन्द—दोहा, सवैया, सोरठा, गीत आदि में सीमित पंक्तियों मे चित्रण होता है। मुक्तक स्वयं मे पूर्ण होता है उसकी खण्ड अनुभूति मे ही उसका सर्वस्व होता है। यह लघु आकार में अर्थ गाम्भीर्य से पूर्ण रहता है और तीव्र प्रभावकारी होता है।

मुक्तक की रचना मे उसी कवि को सफलता मिलती है, जो बौद्धिक न होकर 'भावप्रवण' हो और खण्ड-अनुभवों को पूर्ण बनाकर उनके चित्रण करने का अभ्यासी हो। कविवर बिहारी के दोहे इसी हेतु लोकप्रिय हैं। दीनदयाल की अन्योक्तियाँ, गिरधर की कुण्डलियाँ इसी गुण के कारण लोक और समाज मे प्रिय हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि 'गागर में सागर भरने' की क्षमता जिस कवि मे होती है, उसी सरस एव भावुक कवि के मुक्तक लोकप्रिय हो पाते हैं, अन्यथा नही। इस सरसता की सृष्टि के लिए मुक्तककार को जीवन की विविध-शैलियों के बिम्ब प्रस्तुत करने के लिए तदनुकूल भाषा शैली का आश्रय लेना पड़ता है। यदि उसमे समाहार शक्ति न हुई, तब भी सफलता मिलने मे सन्देह हो जाता है। इन सब के मूल मे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति का भी बडा महत्व होता है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि की अपेक्षा कवि की दृष्टि सूक्ष्म होती है। वह किसी स्थिति का सूक्ष्म आकलन करने मे चित्रकार की भाँति जागरूक रहता है। जो कवि मुक्तक मे बिम्बग्रहण नही प्रस्तुत कर पाता, उसके मुक्तक कभी प्रभावशील नही बन पाते।

मुक्तककार मे उद्भावना शक्ति के चमत्कार का होना भी आवश्यक है। इस शक्ति के बिना मुक्तक मे तीव्र प्रभावकारिता का गुण नहीं आ पाता। इसी प्रकार उक्तिवैचित्र्य, वाग्विदग्धता, सगीतात्मकता, भाषा सौन्दर्य, स्वाभाविक अलकृति और स्पष्टता मुक्तक की आवश्यक विशेषतायें हैं। मुक्तक रचना • पाठ्य और गेय दो प्रकार के होते हैं, जो पाठ्य होते हैं, जैसे दोहा, आदि उन्हें भी गुनगुनाया जा सकता है, किन्तु आजकल ऐसे पाठ्य

...आत्मप्रधान मुक्तक कवि की व्यक्तिगत सुखदुःखात्मक अनुभूतियों से
...द्ध होते हैं। 'आत्माभिव्यञ्जना' इन मुक्तकों का अनिवार्य तत्व है। यथा—
...के पद, महादेवी वर्मा के गीत, तुलसी की विनयपत्रिका के पद आदि।
...ता एवं रागात्मकता के कारण ऐसे मुक्तक विषयप्रधान मुक्तकों की अपेक्षा
...क प्रभावशाली होते हैं। इस श्रेणी में गीतों अथवा गीतियों का महत्वपूर्ण
...न है, जिन्हें 'प्रगीतमुक्तक' भी कहते हैं।

...क की परिभाषा

"मुक्तक पूर्वापरप्रसंग रहित वह संक्षिप्त एवं प्रभावपूर्ण रचना है, जिसमें
...ए छन्द के माध्यम से किसी तीव्र अनुभूति को काव्योचित उपकरणों के
...म में व्यक्त करता है।" (स्वरचित)

गीतकाव्य

मुक्तककाव्य' के अन्तर्गत 'गीतकाव्य' को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है,
...ोंकि इसकी तुलना में पाठ्यमुक्तक उतने प्रभावशील नहीं होते।

...रूप

गीतकाव्य में कवि अपने व्यक्तिगत सुख दुःख की तीव्रतम अनुभूति को
...क्त करने के संगीत प्रधान कोमल शब्दावली को चुनता है। इसमें सरसता,
...मलता, रागात्मकता, लाघव, मार्मिकता और वैयक्तिकता के गुण विद्यमान
...ते हैं। गीतकाव्य कवि के हृदय का स्पन्दन है, इसमें वह प्रेम-वात्सल्य, वेदना,
...र्ष-विषाद आदि का चित्रण करता है। इसकी रचना करने के लिए कवि

बाह्यजगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे भावपूर्ण बनाता है। गीत के रूप में उसकी आत्माभिव्यंजना अत्यन्त सरल होती है। वह शब्द साधना के साथ स्वर साधना भी करता है। महादेवी वर्मा के अनुसार—

"सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष को गिने-चुने शब्दों में चित्रित कर देना ही गीत है। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता सुख-दुःख की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं।"

परिभाषा

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने गीत या प्रगीत की अनेक परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं—

१ "मन में जब एक वेगवान् अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीतिकाव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते।" (रवीन्द्रनाथ टैगोर)

२ "साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" (महादेवी वर्मा)

३ "गीत काव्य या प्रगीत कवि की वह निजी सुख-दुःखमयी तीव्र संकल्पात्मक भावानुभूति का कोमल शब्दावली में संक्षिप्त खण्ड उच्छ्वास है, जो ध्वन्यात्मकता में गेय एवं संगीतात्मक होता है।" (स्फुटिक)

४ "गीतकाव्य कवि की व्यक्तिगत मार्मिक अनुभूति का वह प्रभावपूर्ण संगीतात्मक प्रकाशन है, जिसमें प्रेषणीयता, घनत्व, लाघव स्पष्टता एवं ध्वन्यात्मकता के गुणों का समुचित समावेश हो।" (डॉ० कृष्णदत्त अवस्थी)

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई प्रमुख परिभाषायें इस प्रकार हैं—

१ "सच्चा गीत वही है, जो भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो।" (अर्नेस्ट राइस)

२. गीतिकाव्य वह अन्तर्वृत्ति निरूपिणी कविता है, जो वैयक्तिक अनुभूति से पोषित होती है, जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं, अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।"
(गोमर)

('डमन')

गीतिकाव्य की विशेषतायें

१ संगीतात्मकता २. वैयक्तिकता ३ भावप्रवणता ४ सहज अन्तःप्रेरणा ५ रागात्मकता ६ पूर्वापर सम्बन्ध शून्यता ७ संक्षिप्तता ८ मार्मिकता ९ स्वाभाविक भावाभिव्यक्ति १० प्रवाहमयी शैली ११ सरलकोमलकान्तपदावली १२ समाहित प्रभाव।

गीतिकाव्य के तत्त्व

१ संगीतात्मकता २ तीव्रभावानुभूति ३ आत्माभिव्यक्ति ४ रागात्मक वृत्ति ५. प्रवाहमयी शैली ६. सहज अन्तःप्रेरणा।

संगीतात्मकता—गीत का सहजरूप उसकी संगीतात्मकता है। इससे उसकी प्रभविष्णुता में वृद्धि होती है। संगीतात्मकता के लिए शास्त्रीयता का पालन आवश्यक नहीं, उसमें नाद सौन्दर्य की आवश्यकता होती है। यह नाद सौन्दर्य कोमलकान्त पदावली, वर्णमैत्री आदि द्वारा साध्य शब्द संगीत का जनक होता है। गीति में इसी आन्तरिक संगीत की महत्ता है।

तीव्रभावानुभूति—काव्यमात्र के लिए 'भावप्राधान्य' आवश्यक है, किन्तु गीति में कवि की तीव्रतम सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति ही मुख्य होती है। यही भाव गीत की प्रतिपंक्ति में अनुस्यूत रहता है। यह अन्विति गीत की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करती है।

आत्माभिव्यक्ति–'वैयक्तिकता' से ही गीत में तीव्र प्रभावकारिता आती है। इसे आत्मतत्त्व भी कहते हैं। जब कवि के हृदय में आशा-निराशा, हर्ष-

परिशिष्ट

प्रश्नावली

१–'साहित्य' किसे कहते हैं ? इसकी प्रेरक शक्तियों एवं उद्देश्यों का विस्तृत वर्णन कीजिये ।

२–साहित्य का समाज के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए, 'साहित्यिक सत्य' की मीमांसा कीजिये ।

३–'कला' की परिभाषा देते हुए ललित कलाओं में 'काव्यकला' का सर्वोच्च स्थान सिद्ध कीजिये ।

४–'ललित कलायें मानसिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं ।' इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिये ।

५–'कला कला के लिए' एवं 'कला जीवन के लिए' इन सिद्धान्तों के स्वरूप पर विचार कीजिये ।

६–क्या 'काव्य' और 'विज्ञान' वस्तुतः परस्पर विरोधी हैं ? युक्तियुक्त उत्तर दीजिये ।

७–'काव्य के सत्य' और 'विज्ञान के सत्य' का अन्तर बतलाकर दोनों की मूलभूत एकता का प्रतिपादन कीजिये ।

८–'काव्यात्मा' के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों के मतों की समीक्षा कीजिये ।

९–'अलंकार-सम्प्रदाय' का परिचय दीजिये और काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिये ।

१०–'वक्रोक्ति' और 'अभिव्यंजनावाद' के साम्य-वैषम्य पर विस्तृत प्रकाश डालिये ।

११–'रसनिष्पत्ति' के सम्बन्ध में प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों के मतों की समुचित समीक्षा कीजिये ।

१२–'साधारणीकरण' का क्या तात्पर्य है ? काव्य में [illegible] न स्पष्ट कीजिये ।

१३–शब्द शक्तियों का संक्षिप्त परिचय दीजिये और काव्य में इनकी महत्ता प्रतिपादित कीजिये ।

१४–'लक्षणा' शक्ति का सांगोपांग परिचय देकर व्यंजना के साथ इसका सम्बन्ध बतलाइये ।

१५–'व्यंजना' के स्वरूप एवं उसके प्रकारों पर एक विस्तृत लेख लिखिये ।

१६–भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की काव्य परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए काव्य की एक 'समन्वित-परिभाषा' लिखिये ।

१७–भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'काव्यतत्त्व' कौन-कौन हैं ? दोनों का परिचय देकर समन्वय स्थापित कीजिये ।

१८–काव्य तत्त्वों का परिचय देते हुए भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई काव्य परिभाषाओं की समीक्षा कीजिये ।

१९–काव्य में 'कल्पना' के महत्त्व पर विस्तृत विचार कीजिये ।

२०–'शैली' किसे कहते हैं ? इसके विभिन्न रूपों का परिचय देते हुए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालिये ।

२१–'क्रोचे' के 'अभिव्यंजनावाद' का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये ।

२२–'अरस्तू' के 'अनुकरण सिद्धान्त' का परिचय देते हुए इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये ।

२३–'विरेचन-सिद्धान्त' (कैथार्सिस) का विस्तृत परिचय दीजिये और इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये ।

२४–'प्लेटो' के 'काव्य सिद्धान्त' विषय पर संक्षिप्त प्रकाश डालिये ।

२५–'रिचर्ड्स' के 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' की व्याख्या कीजिये और इसके गुण-दोषों पर विचार प्रकट कीजिये ।

• एस० इलियट' की काव्यधारणाओं का आलोचनात्मक परिचय दीजिये। ...त्मक दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन कीजिये और 'परम्परा' की महत्ता पर प्रकाश डालिये ।

२८–'नाटक रचना' के सम्बन्ध में प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधाराओं का ...

स्पष्ट कीजिये ।

२९–'एकांकी' के तत्त्वों का परिचय दीजिये और नाटक तथा एकाकी के अन्तर को स्पष्ट कीजिये ।

३०–'उपन्यास' किसे कहते है ? इसके तत्त्वों पर प्रकाश डालिये और कहानी के साथ इसकी तुलना कीजिये ।

३१–'निबन्ध' के स्वरूप का परिचय देते हुए उसकी विशेषताओ एव प्रकारो का परिचय दीजिये ।

३२–'साहित्य' मे आदर्श एव यथार्थ की सीमाएँ निर्धारित कीजिये और दोनो के अन्तर को स्पष्ट कीजिये ।

३३–'आलोचना' की महत्ता बतलाते हुए उसके विविध भेदो का परिचय दीजिये ।

३४–'आलोचना' किसे कहते है ? उत्तम आलोचक के गुणो पर प्रकाश डालिये ।

३५–'जीवनी' और 'संस्मरण' का परिचय दीजिये और दोनो का अन्तर स्पष्ट कीजिये ।

३६–रेखाचित्र और संस्मरण का तुलनात्मक परिचय देते हुए दोनो के साम्य एव वैषम्य पर प्रकाश डालिये ।

३७–हिन्दी गद्य की नूतन विधाओ मे से किन्ही दो का परिचय दीजिये ।

३८–'गद्यकाव्य' का परिचय दीजिये और 'भावात्मक निबन्ध' के साथ इसकी तुलना कीजिये ।

३९–'इण्टरव्यू' और 'रिपोर्ताज' के स्वरूपो पर प्रकाश डालिये ।

४०–संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—(क) गीतकाव्य (ख) महाकाव्य (ग) खण्डकाव्य (घ) आत्मकथा (ङ) औचित्य सम्प्रदाय (च) शब्दशक्ति (छ) अभिव्यंजनावाद (ज) रीति सम्प्रदाय (झ) रसनिष्पत्ति (ञ) वक्रोक्ति सम्प्रदाय ।